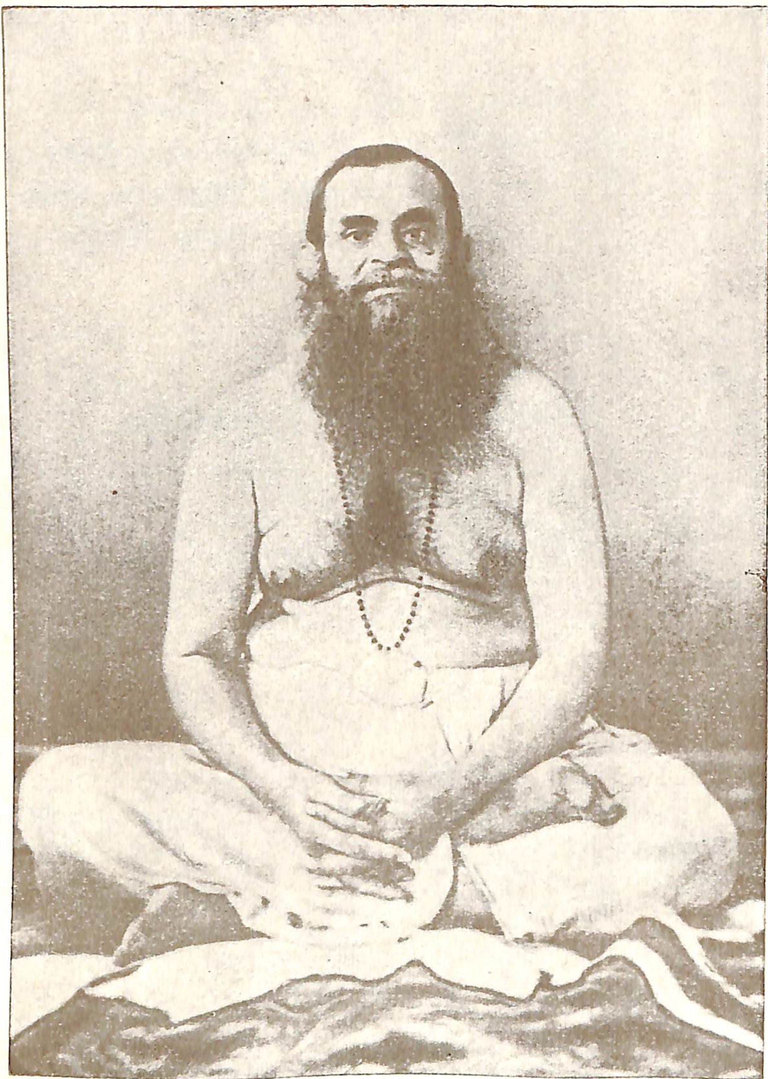
परमार्थ प्रसंग

स्वामी विरजानन्द



श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर -



स्वामी विरजानन्द

श्री श्री सारदा देवी

एवं

श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द की

अहैतुकी कृपा तथा आशीर्वाद की

पुण्यस्मृति में

प्रगाढ़ नम्रता और भक्ति सहित

उनके श्रीचरणों में

अर्घ्यस्वरूप समर्पित ।

।। ॐ तत् सत् ॐ ।।

निवेदन

पूज्यपाद श्री स्वामी विरजानन्दकृत 'परमार्थ-प्रसंग' का यह तृतीय संस्करण हम अत्यन्त हर्ष के साथ प्रकाशित कर रहे हैं। श्रीमत् स्वामी विरजानन्दजी सुदीर्घकाल तक श्रीरामकृष्ण संघ के अध्यक्ष रहे थे। उस समय अनेकानेक जिज्ञासु भक्त उनके निकट आध्यात्मिक मार्गदर्शन की प्रत्याशा रखते थे। किन्तु महाराजजी का शरीर सब समय स्वस्थ न रहने के कारण तथा श्रीरामकृष्ण संघ के अनेक उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों में उनके व्यस्त रहने के कारण जिज्ञासु भक्त उनके साथ धार्मिक तथा आध्यात्मिक विषयों पर इच्छानुरूप वार्तालाप करने की विशेष सुविधा नहीं पाते थे। इस कारण अनेक भक्त प्रत्यक्ष या परोक्ष में दुःख भी प्रकट करते थे। श्री महाराजजी भी अपनी इस अक्षमता के कारण व्यथा का अनुभव करते थे। अतः इस परिस्थिति के कुछ प्रतिकारस्वरूप वे धर्म एवं आध्यात्मिक साधना सम्बन्धी अपनी अन्तःस्फूर्त विचारधारा को समय समय पर, विशेषतः अपनी दीक्षित सन्तानों के लिए लिपिबद्ध कर रखते थे। तदुपरान्त, अनेक भक्तों के इस अनुरोध पर कि उदार भावधारा पर आधारित इन सर्व-कल्याणकारी उपदेशों से सभी धर्मपिपासुओं को साधना-पथ में विशेष सहायता मिल सकेगी, उन्होंने उस समस्त विचारधारा को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की अनुमति दे दी।

सन् १८९२ में सत्रह वर्ष की अवस्था में संसार त्याग-कर तथा श्रीरामकृष्ण संघ के वराहनगर-स्थित प्रथम मठ में योगदान करने के पश्चात् श्री महाराजजी सुदीर्घ ६० वर्ष पर्यन्त, श्री स्वामी विवेकानन्द तथा भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्यान्य पार्षदों के साथ, समयानुसार, सेवाव्रत तथा घनिष्ठ संग में रहे। इस दिव्य अवधि में श्री महाराजजी के शास्त्रानुशीलन, तपस्या, योगसाधन एवं कर्ममय जीवन के फलस्वरूप उपलब्ध अनुभव एवं ज्ञानराशि का किंचित् आभास इस पुस्तक में प्रकट हुआ है।

बड़ी बड़ी जटिल दार्शनिक समस्याओं पर विचार तथा तत्सम्बन्धी निष्कर्ष प्रतिपादित करना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं। जिनके अन्तकरण में धर्मभाव तथा आध्यात्मिक प्रेरणा के स्फुरण के फलस्वरूप, कुछ प्रत्यक्ष उपलब्धि की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई है, तथा जो संसार के नानाविध विघ्न-बाधा, घात-प्रतिघात एवं व्यर्थता, निःसारता के साथ युद्ध करते हुए अपनी क्षुद्र सामर्थ्य द्वारा साफल्यलाभ में स्वयं को कुछ निरुत्साहित तथा असहाय अनुभव करते हों, उन्हें श्रेय के पथ पर संस्थापित हो दृढ़ता से आगे बढ़ने के लिए मार्ग-प्रदर्शन तथा प्रोत्साहन-प्रदान में ही इन प्रसंगों की सार्थकता है। नये साधक को प्रतिदिन के व्याव-हारिक जीवन में जिन समस्त चित्त-विक्षेपकारी अनेक छोटे बड़े संशय तथा समस्याओं का मुकाबला करना पड़ता है, उनकी सुसंगत विवेचना तथा तद्विषयक व्यावहारिक

समाधान भी इस ग्रन्थ का एक वैशिष्ट्य है। साथ ही, जैसा पाठक स्वयं अनुभव करेंगे, पुस्तक के आधारस्वरूप, कितने ही आध्यात्मिक सिद्धान्त, इसमें प्रचुर परिमाण में विद्यमान हैं।

श्री स्वामी विरजानन्दजी द्वारा युवावस्था में रचित श्रीरामकृष्ण-दशक-स्तोत्र भी ग्रन्थ में मंगलाचरण के रूप में दिया गया है।

श्री महाराजजी के शिष्य, मकड़ाई (म० प्र०) निवासी स्व० श्रीकृष्ण गंगराड़े ने इस पुस्तक का मूल बंगला से अनुवाद किया है। उनका यह कार्य भक्ति एवं पवित्र-भावना से तथा अत्यन्त सफलतापूर्वक हुआ है।

इस पुस्तक के साथ प्रसिद्ध अमेरिकन लेखक जेराल्ड हर्ड तथा क्रिस्टोफर इशरवूड द्वारा लिखित 'परमार्थ-प्रसंग' के अंग्रेजी संस्करण की भूमिका तथा प्राक्कथन के हिन्दी अनुवाद जोड़ दिये गये हैं। उनसे भारतीय पाठकों को ज्ञात होगा कि पाश्चात्य चिन्तक भारतीय आध्यात्मिक विचारों तथा आदर्शों को किस दृष्टि से ग्रहण करते हैं।

ये उपदेश बोलचाल की भाषा में होने से स्त्री-पुरुष, शिक्षित-अशिक्षित, युवा-वृद्ध, गृही-संन्यासी सभी के लिए सहज बोधगम्य तथा प्रत्यक्ष बातचीत के सदृश सरल एवं

हृदय-स्पर्शी हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि श्री महाराजजी की इस ज्ञानगर्भ वाणी के पठन-पाठन से सभी का विशेष कल्याणसाधन होगा।

नागपुर)
१ सितम्बर १९७३)

—प्रकाशक

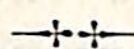
भूमिका

इस पुस्तक के पढ़ने से पाश्चात्य पाठक के मन में यह भाव जागृत होगा कि यह श्रीरामकृष्ण और स्वामी ब्रह्मानन्दजी की शिक्षा के अनुरूप धारा का यथार्थ अनुसरण है। क्या रचना-शैली, क्या भावों का समावेश तथा वास्तविकता के क्षेत्र में प्रयोग-कुशलता और समयोपयोगी प्रसंग-क्रम—सब तरह से ही यह पुस्तक श्री 'म' द्वारा लिपिबद्ध भगवान श्रीरामकृष्णदेव के श्रीमुख से निःसृत उपदेशावली एवं सर्वजनपरिचित 'श्रीश्रीरामकृष्णकथामृत' और 'The Eternal Companion' (नित्यसंगी) नामक पुस्तक में स्वामी ब्रह्मानन्दजी के धर्म-प्रसंगों की बातों का स्मरण करा देती है। इस पुस्तक में पाठक पारमार्थिक विषय का अस्पष्ट वर्णन या दीर्घछन्द-युक्त वाग्मिता-विन्यास का परिचय नहीं पायेंगे। भिन्न भिन्न श्रेणी के अधिकारी और विभिन्न विषयों के विशेषज्ञ सत्यशोधक जिज्ञासुओं के एक तत्त्वदर्शी आचार्य के साथ प्रश्नोत्तर और प्रत्यक्ष चर्चा और आलोचना के रूप में ये प्रसंग निकले हैं, इसीलिए ये रसपूर्ण हैं। ऐसा जान पड़ता है मानो सम्मुख ही बातचीत चल रही हो। इसी कारण हरएक के लिए कुछ-न-कुछ शिक्षा का विषय इसमें पाया जाता है। फिर इसमें हैं—वह वैज्ञानिक तथ्य, वह आलोचना-पद्धति का शृंखला-बोध और वह विशिष्ट विषय-ज्ञान का उपयोगी अनुशीलन—जिनका अभाव अध्यात्म-विषयक पाश्चात्य पुस्तकों में सर्वत्र पाया जाता है। अधिक-

तर वे लोग---जिनका वेदान्त से परिचय नहीं है---इस पुस्तक को यदि संग्रह करके सहज मन से पढ़ने बैठें तो कम से कम उनमें कुतूहल का उद्रेक और वृद्धि अवश्य होगी, और साथ ही शायद आश्चर्य भी जागृत हो। इसमें जो कुछ शान्त, आडम्बरहीन के तौर पर वर्णन किया गया है---जो कुछ सत्य के रूप से पाठक के सामने रखा गया है, वह यदि सत्य हो, तो निश्चय रूप से, प्रत्येक के लिए उस विषय में कुछ-न-कुछ करना ही चाहिए। इसी मनोभाव को उद्दीप्त करना इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। और जो पहले से ही इस पंथ पर यात्रा करने का प्रयास कर रहे हैं वे इसे पढ़ते समय देखेंगे कि यह पुस्तक प्रयोजनीय ज्ञातव्य तथ्य, उच्छ्वसित अन्तर्दृष्टि और गहरे ज्ञान के आलोक से पूर्ण है। फिर भी, इसमें कोई चमकानेवाली बात या आश्चर्यजनक कुछ भी नहीं है। इसमें है सन्देह-हीन विशुद्ध सनातन भावधारा का स्फुरण। यही है श्रीरामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्दजी और स्वामी ब्रह्मानन्दजी की वाणी। यही क्यों?---अनादिकाल से सब प्रत्यादिष्ट महापुरुषों की यही वाणी रही है। वही इस ग्रन्थ में प्रतिध्वनित हुई है अपनी मातृभाषा में, छोटे छोटे परिच्छेदों में और सारगर्भित वाक्यों में---ठीक जैसे कि हमारा कर्म-व्यस्त मन चाहता है। परन्तु घोषित हुई है वह चिरन्तन सत्य की अभयवाणी ही---उस परमपद की और चिरशान्ति की आशा में जीवनव्यापी---नहीं, नहीं, जन्म-जन्मान्तरव्यापी, आत्मा के अनुसन्धान की ही वाणी।

जेराल्ड हर्ड

प्राक्कथन



प्रस्तुत पुस्तक के लेखक का आध्यात्मिक और अच्छे अर्थ में सांसारिक अनुभव विशाल रहा है। श्रीरामकृष्ण मठ तथा उसके बहुव्यापी, जनहितकारी मिशन के सर्वाध्यक्ष होने के नाते स्वामी विरजानन्दजी धर्माचार्य के समान तत्त्वोपदेश देने के अधिकारी हैं। दूसरी दृष्टि से सर्वांगीण शिक्षा और सामाजिक उन्नति की योजनाओं के परिचालक होने के कारण भी वे अपना मत देने की पात्रता रखते हैं। इसलिए, दोनों दृष्टियों से ही उनकी बातें प्रमाण-योग्य हैं। फिर, ये उपदेश सिर्फ संन्यासियों को लक्ष्य करके नहीं दिये गये हैं। सब श्रेणियों की नर-नारियों को उद्देश्य करके ही दिये गये हैं। हाँ, यह बात ठीक है कि 'परमार्थ प्रसंग' मुख्य रूप से हिन्दू जन-साधारण के लिए लिखा गया है—ठीक उसी तरह जिस तरह पाश्चात्य देशों में ईसाई-भाव से जिन पाठकों का जीवन गठित होता है, उनके लिए वहाँ ग्रन्थ-रचना होती है। लेकिन ऐसा होने पर भी कोई यथार्थ ज्ञानान्वेषी पाश्चात्य पाठक इस पुस्तक के पढ़ने से निवृत्त न हो; क्योंकि जगत् के श्रेष्ठ मतवाद और अनुष्ठान-प्रणालियाँ भी सार्वभौम आध्यात्मिक सत्य के अनन्त विस्तार की तुलना में छोटी-छोटी सीमाबद्ध अभिव्यक्तियाँ मात्र हैं। वस्तुत:, जब किसी सम्प्रदाय का व्यक्ति दूसरे सम्प्रदाय की भाषा और भाव में उसी एक ही सत्य का वर्णन पाता है तब उसके धर्म-विश्वास को दृढ़ बनाने में अवश्य सहायता

होती है। इस उपाय द्वारा, अपने धर्म-विश्वास-समूह के बीच, मूल तत्त्व के रूप से कौनसा अन्तरंग और कौनसा बहिरंग है, यह बहुत ही सहज रूप से, हम निर्धारित कर सकते हैं।

स्वामी विरजानन्दजी के समग्र उपदेशों का सारांश संक्षेप में वर्णन करने की चेष्टा न कर प्रयोजनीय कुछ विषयों का उल्लेख करूँगा—उन्हीं का जो मेरी दृष्टि में सब से अधिक प्रयोजनीय प्रतीत होते हैं। शायद, उसका कुछ भाग प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अपनी समस्या और भिन्न भिन्न अवस्था में विशेष रूप से लागू हो सकता है।

प्रथमतः व्रत-नियम, उपासना और ध्यान-धारणा आदि के विषयों में—तर्क न करो,—उनकी साधना करके देखो। "मैं प्रार्थना करना नहीं चाहता हूँ,—फिर भी समझो यदि करूँ..."—बुद्धिजीवियों का यही सर्व-साधारण मनोभाव है। दार्शनिक तत्त्व और सौन्दर्य की दृष्टि से, धर्म-जीवन का भाव, उन्हें आकर्षित करता है, यह सच है, परन्तु किस तरह धर्म-जीवन व्यतीत करने की चेष्टा करनी पड़ती है, इसके विषय में कोई सिद्ध सिद्धान्त वे नहीं बना पाते हैं। आध्यात्मिक जीवन को आरम्भ करने के पहले ही उन्हें अपना स्थान स्पष्ट रूप से निर्दिष्ट कर लेना चाहिए—उन्हें अपनी समस्या समझ लेनी चाहिए। भावावेग को वे सन्देह की दृष्टि से देखते हैं, उनका तर्कपूर्ण मन, सब कुछ सीधे साफ तौर पर पाना चाहता है—यही उनका कथन होता है। प्रचलित किसी धर्म में वे तृप्ति

नहीं पाते--क्योंकि उनमें से कई नितान्त पुराने ढंग के हैं--कई बहुत ही विजातीय भावों से भरे हैं--और फिर, कोई कोई तो भयंकर कुरुचिपूर्ण हैं। वे कहीं बुद्धू न बन जायँ--सन्देहवादी मित्रों के बीच हास्यास्पद न हो जायँ, इस चिन्ता से बुरी तरह भयभीत हो रहते हैं। इसलिए वे मुँह से सिर्फ चर्चा-आलोचना किया करते हैं, राशि-राशि ग्रन्थों का पाठ किया करते हैं, और इन्हीं सब बातों में उनका समय बर्बाद हो जाता है; फलस्वरूप निष्पन्न तो कुछ नहीं होता। इस तरह की अवस्था जैसे कि स्वामी विरजानन्दजी ने दर्शाया है--किसी भी तरह से आशा-दायक नहीं है। वे कहते हैं, समुद्र कब शान्त होगा उसके लिए बैठे न रहो। जहाँ भी हो, जैसे भी हो, कूद पड़ो, लहरें देखकर डरो मत। धर्म की तीस मन व्याख्या की अपेक्षा उसकी एक छटाक साधना का मूल्य बहुत अधिक है। साधना और प्रत्यक्ष अनुभव के बल से ही हम समस्त यथार्थ ज्ञान लाभ कर सकते हैं; और इस ज्ञानवृद्धि के साथ ही साथ विविध धर्ममत के सम्बन्ध में कूट-तर्क--जो पहिले धर्मविश्वास के प्रबल अन्तराय थे--नितान्त ही तुच्छ प्रतीत होंगे। यही कारण है कि बहुत ही संकीर्ण और पर-मत-असहिष्णु धर्म-सम्प्रदाय में भी कभी-कभी साधु-महापुरुषों का आविर्भाव दिखाई देता है।

द्वितीयतः, जो संशयात्मा हैं, उच्च आदर्श से गिरे हुए हैं और नाना प्रकार के सांसारिक उत्तरदायित्वों और चिन्ताओं के भार से पीड़ित हैं, उनके प्रति कुछ वक्तव्य है।

इतना कर्म-व्यस्त, इतना दुर्मति और इतना अधःपतित कोई नहीं है जो प्रार्थना नहीं कर सकता। जो विषय-कर्मों में लगे हुए हैं, वे उस दिन का सुख-स्वप्न देखते हैं जिस दिन वे काम-धन्धा और दायित्व से मुक्त होकर उच्चतर विषयों में मनोनिवेश कर सकेंगे। जो शराबी है, वह भी शराब पीना छोड़कर संयमी जीवन व्यतीत करने का संकल्प करता है। वह अपने मन में सोचता है, 'मैं जिस तरह से चलता हूँ उस तरह से मैं भगवान के पथ पर आगे बढ़ने के लिए अयोग्य हूँ।' इस तरह के असंयत मनोभाव बड़े ही विपद्‌जनक हैं, और यदि वे कभी कार्यरूप में परिणत किये भी जाते हैं, तो उन सब से ऐसे अतिरंजित एवं विकृत त्याग-मार्ग के नाना प्रकार के आचरण उद्‌भूत हो सकते हैं जिनका परिणाम होता है पूर्वपथ पर पुनरागमन एवं द्विगुणित आत्मधिक्कार! हम किसी भाव या अवस्था में क्यों न रहें, उसी भाव और अवस्था से ही हमें साधना के पथ पर आगे बढ़ना होगा। अपनी शक्ति पर साध्यातीत बोझ लादना उचित नहीं है। जब तक प्रलोभन से सामना लेने की इच्छा बलवती रहती है तब तक त्रुटि-विच्युति से लज्जित होने का कारण नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण कह गये हैं---भगवद्-पथ पर चलने के लिए जिसने थोड़ी भी चेष्टा की है वह कभी भी नष्ट नहीं हो सकता; कारण आपातदृष्टि से उसका आचरण चाहे जितना भी विपरीत क्यों न प्रतीत हो, उस पथ पर कभी भी होनेवाला उसका प्रत्येक पदक्षेप ही स्थायी उन्नति-स्वरूप हो जाता है। भक्ति, उपासना, स्मरण-मनन सामान्य

और अनियमित भाव से अनुष्ठित होने पर भी उनकी शक्ति अद्भुत होती है। यहाँ तक कि, किसी भी व्यक्ति की जीवन-यात्रा के साथ उनकी धर्म-साधना की संगति नहीं है ऐसा प्रतीत होने और उच्चतर जीवन व्यतीत करने का संकल्प प्रत्यक्ष रूप से न करने पर भी ऐसी साधना धीरे धीरे अनजाने ही उसके जीवन को रूपान्तरित कर देती है।

पूर्वोक्त चर्चा से अब मैं अपने तीसरे विषय पर आता हूँ, जिसे कहकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा। उस प्रथमोन्मीषित सामान्य, तथापि निःसन्दिग्ध प्रेरणामात्र को, जो हमारे श्रद्धाहीन, अव्यवस्थित चित्त को आकर्षित कर हमें साधना के पथ पर लगा दे सकती है, हम किसी तरह कार्यान्वित कर सकते हैं? यह बिलकुल व्यक्तिगत प्रश्न है। परन्तु इतना शायद निस्सन्देह कहा जा सकता है कि सिर्फ युक्तियाँ देकर और तर्क करके धर्म-भाव कभी भी उद्दीपित नहीं होता। अधिकांश क्षेत्र में वह उद्‌बुद्ध होता है आदर्श जीवन के दृष्टान्तों के द्वारा, और किसी भी तरह किसी महापुरुष का व्यक्तिगत संग पाने से। प्रकृत अध्यात्म-शक्ति अत्यन्त संक्रामक है। जो धर्मगुरु हैं उनके उपदेश की अपेक्षा उनका स्वयं का जीवन और धर्म-भाव अधिक प्रभाव-शाली होता है। इसीलिए मैं जन-साधारण को 'परमार्थ-प्रसंग' पढ़ने की सिफारिश करता हूँ। यह एक साधारण पुस्तक भर नहीं है--इसमें और भी कुछ है। इसमें हम पाते हैं एक महापुरुष का साक्षात् संग--ऐसे एक आचार्य का संग, जो निज जीवन में पायी हुई वास्तविक उपलब्धि

की शिक्षा दे रहे हैं। अखबारों में जब हम विदेश के किसी शहर की किसी राजनीतिक घटना की बात पढ़ते हैं तब उस पर थोड़ासा विश्वास करने के लिए मन चाहता है। फिर भी सन्देह रह जाता है—शायद असली तथ्य के साथ किसी प्रकार के विशेष आन्दोलन का प्रचार मिला हुआ हो। कोई अन्तरंग मित्र जब उस शहर से लौटकर उक्त घटना का समर्थन करता है तब उसकी सत्यता के बारे में बहुत कुछ विश्वास-सा हो जाता है; परन्तु उस विषय में पूर्ण सन्देह-हीन होने के लिए तो हमें स्वयं उस शहर में जाकर उसे अपनी आँखों से देखना पड़ता है। मुझे आशा है कि अधिकांश पाठकों को स्वामी विरजानन्दजी की इस पुस्तक की पाठ-समाप्ति उनके आध्यात्मिक जीवन-यात्रा के प्रारम्भ की प्रेरणास्वरूप सिद्ध होगी।

क्रिस्टोफर इशरवुड

मंगलाचरण

श्रीरामकृष्ण-स्तोत्र-दशकम्

ब्रह्म-रूपमादि-मध्य-शेष-सर्व-भासकं,
भाव-षट्क-हीन-रूप-नित्य-सत्यमद्वयम् ।
वाङ्-मनोऽति-गोचरञ्च नेति-नेति-भावितं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥१॥

जो परब्रह्म-स्वरूप हैं--जिनकी सत्ता से प्रत्येक वस्तु का आदि, मध्य और अन्त प्रकट हो जाता है--जो षड्-विकारों से रहित हैं, मन-वाणी की समझ से परे हैं, नित्य सत्यस्वरूप हैं, जिन्हें छोड़कर अन्य दूसरा पदार्थ ही नहीं है, जो नेति-नेति इस वेदवाक्य की सहायता से चिन्तनीय हैं, उन देवाधिदेव भगवान श्रीरामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१॥

आदितेय-भी-हरं सुरारि-दैत्य-नाशकं,
साधु-शिष्ट-कामदं मही-गुभार-हारकम् ।
स्वात्म-रूप-तत्त्वकं युगे युगे च दर्शितं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥२॥

अदिति की सन्तान देवताओं का भय हरण करनेवाले, सुररिपुदैत्यकुल के विनाशक, साधुसन्त और भले लोगों के अभीष्टदाता, पृथ्वी के गुरु (पाप) भार को हरण करनेवाले, अपने स्वरूप और तत्त्व को युग युग में (भक्तों के समीप)

प्रकट करनेवाले, उन देवाधिदेव भगवान श्रीरामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥२॥

सर्वभूत-सर्ग-कर्म-सूत्र-बन्ध-कारणं,
ज्ञान-कर्म-पाप-पुण्य-तारतम्य-साधनम् ।
बुद्धि-वास-साक्षि-रूप-सर्व-कर्म-भासनं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥३॥

जिन्होंने अखिल प्राणिमात्र को कर्मसूत्र में बाँध रखा है, (संसार में) ज्ञान, कर्म और पाप-पुण्य के तारतम्य का जो विधान करते हैं, मनुष्य के बुद्धि (हृदय) रूपी घर में जो निवास करते हैं, जो निर्लिप्त साक्षीस्वरूप से रहते हुए भी समस्त कर्मों के प्रेरक हैं, उन परमदेव भगवान श्रीरामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३॥

सर्व-जीव-पाप-नाश-कारणं भवेश्वरं,
स्वीकृतञ्च गर्भवास-देह-धानमीदृशम् ।
यापितं स्वलीलया च येन दिव्य-जीवनं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥४॥

जो सब जीवों के पापनाशन में कारणभूत, विश्वेश्वर होकर भी (जीवों के प्रति करुणान्वित होकर) जिन्होंने स्वेच्छा से गर्भवास और इस प्रकार का देहबन्धन स्वीकार किया, जिन्होंने दिव्य जीवन यापन करके उसमें बहुविध ईश्वरीय लीलाएँ प्रकट कीं उन्हीं देवाधिदेव भगवान श्रीरामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥४॥

तुल्य-लोष्ट-काञ्चनञ्च हेय-नेय-धीगतं,
स्त्रीषु नित्य-मातृरूप-शक्ति-भाव-भावुकम् ।
ज्ञान-भक्ति-भुक्ति-मुक्ति-शुद्ध-बुद्धि-दायकं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥५॥

मिट्टी के ढेले और स्वर्ण को जो समदृष्टि से देखते थे,---जिनके मन से त्याज्य और ग्राह्य बुद्धि का विलोप हो गया था---स्त्रीमात्र में जो सदा जगन्माता की महाशक्ति का अनुभव करते थे---ज्ञान, भक्ति, भुक्ति (इहलौकिक और पारलौकिक सुख), मुक्ति और शुद्ध बुद्धि प्रदान करनेवाले उन्हीं परमदेव भगवान रामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥५॥

सर्व-धर्म-गम्य-मूल-सत्य-तत्त्व-देशकं,
सिद्ध-सर्व-सम्प्रदाय सम्प्रदाय-वर्जितम् ।
सर्व-शास्त्र-मर्म-दर्शि-सर्वविन्निरक्षरं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥६॥

सब धर्ममतों द्वारा जिस एक सत्यवस्तु का ज्ञान होता है उसी परमतत्त्व के निर्देशक, सब सम्प्रदायों की साधनाओं में सिद्ध होकर भी सम्पूर्णतया साम्प्रदायिकता विरहित, सकल शास्त्रों के मर्मदर्शी, निरक्षर होकर भी सर्वज्ञ, ऐसे उन देवाधिदेव भगवान रामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥६॥

चारुदर्श-कालिका-सुगीत-चारु-गायकं,
कीर्तनेषु मत्तवच्च नित्य-भावविह्वलम् ।
सूपदेश-दायकं हि शोक-ताप-वारकं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥७॥

जिनका रूप अत्यन्त मनोहर था, माँ कालीविषयक गीत जो सुललित कण्ठ से गाते थे, कीर्तन में जो उन्मत्तवत् नृत्य करते तथा ईश्वरी भाव में सर्वदा विह्वल हो उठते, (भक्तों को) सदुपदेश देनेवाले तथा त्रितापदग्ध मानवों के शोक-तापहारी उन देवाधिदेव भगवान रामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥७॥

पाद-पद्म-तत्त्व-बोध-शान्ति-सौख्य-दायकं,
सक्त-चित्त-भक्त-सून-नित्य-वित्त-वर्धकम् ।
दम्भि-दर्प-दारणन्तु निर्भयञ्जगद्गुरुं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥८॥

स्वकीय श्रीचरणकमलों के निगूढ़ तत्त्व का ज्ञान, शान्ति और सुख के देनेवाले, अनुरक्त भक्तसन्तानों की (इहलौकिक और पारलौकिक) सम्पत्ति को सदा बढ़ानेवाले, दाम्भिकों का अभिमान चूर्ण करनेवाले, निर्भय जगद्गुरु रूप से जो अवतीर्ण हुए थे, उन्हीं परमदेव भगवान रामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥८॥

पञ्चवर्ष-बाल-भाव-युक्त-हंस-रूपिणं,
सर्व-लोकरञ्जनं भवाब्धि-संग-भञ्जनम् ।
शान्ति-सौख्य-सद्म-जीव-जन्मभीति-नाशनं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥९॥

जिनका परमहंस रूप रहा, जिनका स्वभाव पाँच वर्ष के बालक के समान था, सब को ही जो आनन्ददायक थे,

(जीवों की) संसारासक्ति को नष्ट करनेवाले, शान्ति और सुख के आलय, जन्ममृत्यु के भय के विनाशक, उन्हीं देवाधिदेव भगवान रामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥९॥

धर्म-हान-हारकं त्वधर्म-कर्म-वारकं,
लोक-धर्म-चारणञ्च सर्व-धर्म-कोविदम् ।
त्यागि-गेहि-सेव्य-नित्य-पावनाङ्घ्रि-पङ्कजं,
तं नमामि देव-देव-रामकृष्णमीश्वरम् ॥१०॥

जिन्होंने अधर्म की गति को रोककर धर्मग्लानि को दूर किया, सर्वधर्मविशारद होकर भी जो (लोकशिक्षार्थ) लौकिक धर्म का आचरण करते थे, जिनके पवित्र पादपद्म त्यागी और गृही उभयविध भक्तों के नित्य सेव्य हैं, उन्हीं देवाधिदेव भगवान रामकृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥१०॥

स्तोत्र-शून्य-सोमकं सदीश-भाव-व्यञ्जकं,
नित्य-पाठकस्य वै विपत्ति-पुञ्ज-नाशकम् ।
स्यात् कदापि जाप-याग-योग-भोग-सौलभं,
दुर्लभन्तु रामकृष्ण-राग-भक्ति-भावनम् ॥११॥

(श्रीरामकृष्ण का माहात्म्यप्रकाशक यह) स्तोत्र-दशक (सोम = १, शून्य = ०) सत्यस्वरूप ईश्वरीय भाव का व्यंजक है। इसे नित्यपाठ करनेवाले के विपत्तिसमूह का निश्चय नाश होता है। जप-तप, याग-यज्ञ, योग-भोग---ये सब तो कभी कभी सुलभ हो सकते हैं, पर भगवान श्रीरामकृष्ण के

प्रति अनुराग और भक्तिभाव की प्राप्ति दुर्लभ है ॥११॥

इति श्रीविरजानन्द-रचितं भक्ति-साधकम् ।
स्तव-सारं समाप्तं वै श्रीरामकृष्ण-तूणकम् ॥१२॥

श्रीमत् स्वामी विरजानन्द द्वारा तूणक छन्द में रचित श्रीरामकृष्ण-स्तोत्रदशक नामक भक्तिवर्धक यह स्तवसार समाप्त हुआ ॥१२॥

परमार्थ प्रसंग

परमार्थ-प्रसंग

१. भगवत्प्राप्ति के लिए साधक में ये गुण आवश्यक हैं—(१) धैर्य (२) अध्यवसाय (३) देह और मन की पवित्रता (४) तीव्र आकांक्षा या व्याकुलता (५) षट्सम्पत्ति अर्थात् शम (अन्तःकरण की स्थिरता), दम (इन्द्रियनिग्रह), उपरति (विषयासक्तित्याग), तितिक्षा (सब तरह के दुःखों में अविचलित रहना), श्रद्धा (गुरु और शास्त्रवाक्य में विश्वास) और समाधान (इष्ट में चित्त-स्थापन)।

---

२. साधन-भजन द्वारा जो उपलब्धि और दर्शनादि हों, वे गुरु को छोड़कर और किसीसे भी नहीं कहना चाहिए, तुम्हारी आध्यात्मिक सम्पदा—तुम्हारी अन्तरतम विचारधारा—अपने अन्तःकरण में ही छिपाकर रखो। दूसरों के निकट उसे प्रकट न करो। वह तुम्हारा पवित्र गुप्त धन है, एकमात्र भगवान के साथ एकान्त में उपभोग की वस्तु है। फिर इसी तरह अपने दोष, कमी तथा अनाचार की बातें भी दूसरों के पास बकते न फिरो। उससे अपना आत्मसम्मान खो डालोगे तथा दूसरों के निकट हीन कोटि के व्यक्ति के रूप में प्रसिद्ध होगे। अपने दोष और दुर्बलता भगवान के पास व्यक्त करो और उनसे प्रार्थना करो कि वे तुम्हें इन्हें सुधारने की शक्ति प्रदान करें।

---

३. ध्यान करने के लिए बैठने पर पहले कुछ समय स्थिर बैठकर, मन जहाँ जाय, जाने दो। सोचो, मैं साक्षी हूँ, द्रष्टा हूँ, बैठे बैठे मन का डूबना-उतराना, दौड़धूप देखो, लक्ष्य करो। सोचो, मैं देह नहीं, इन्द्रिय नहीं, मन नहीं; मैं मन से सम्पूर्ण पृथक् हूँ। मन भी जड़ है, जड़ की ही एक सूक्ष्म अवस्था। मैं आत्मा हूँ, मालिक; मन मेरा दास है। जब भी कोई व्यर्थ विचार मन में उठे, उसी समय उसे जबरदस्ती से दबा देने की चेष्टा करते रहो।

---

४. साधारणतः विश्राम के समय बायें नथने से और कामकाज के समय दाहिने नथने से श्वास-प्रश्वास निकलता है। ध्यान के समय दोनों नथनों से समान निकलता है। जब देह-मन शान्त हो जाते हैं और दोनों नथनों से समान रूप से श्वास-प्रश्वास निकलने लगे, तब समझना कि ध्यान के लिए अनुकूल अवस्था उपस्थित हुई है। पर यह देखने के लिए श्वास-प्रश्वास पर इतनी निगाह रखने की आवश्यकता नहीं, और इसे ही मापदण्ड बनाकर अपना कामकाज नियन्त्रित करने की जरूरत नहीं।

---

५. मन के स्थिर होते ही वायु स्थिर हो जाती है—कुम्भक हो जाता है। पुनः, वायु स्थिर होने से ही मन एकाग्र हो जाता है। भक्ति-प्रेम से भी कुम्भक अपने आप होने लगता है—वायु स्थिर हो जाती है। व्याकुलतापूर्वक अन्तःकरण से स्मरण-मनन करने और मन्त्र जपने से

प्राणायाम अपने आप ही होने लगता है।

---

६. अभ्यास और वैराग्य को छोड़कर मन की एकाग्रता प्राप्त करने का सुलभ और सहज उपाय अन्य कोई नहीं है।

---

७. चाहे जितने समय तक जप-ध्यान करो––वह १०-१५ मिनट करो––उतना भी अच्छा है, किन्तु उसे मन-प्राण की तन्मयता से करो। वे तो अन्तर्यामी हैं, भीतर देखते हैं; कितने समय तक ध्यान किया, या कितने बार जप किया इसे तो वे देखेंगे नहीं।

---

८. आरम्भ में जप-ध्यान नीरस ही लगता है। तो भी औषधि निगलने के समान किये जाओ। ३-४ वर्ष निष्ठा के साथ करने पर आनन्द मिलने लगेगा। तब एक दिन भी न करने पर अत्यन्त कष्ट होगा और कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा।

---

९. आध्यात्मिक जीवन-लाभ के लिए पुरुषकार (प्रयत्न) चाहिए। मैं स्वप्रयत्न से, साधन-भजन करके ईश्वर को अवश्य प्राप्त करूँगा, ऐसा दृढ़ संकल्प करके निष्ठा के साथ ३-४ वर्ष तक रोज कम से कम प्रातःकाल और सायंकाल, प्रत्येक बार दो घण्टा आसन पर बैठकर जपध्यान करते जाओ, भला !

---

१०. गृहस्थों के लिए ज्यादा प्राणायाम करना ठीक

नहीं। जो ज्यादा प्राणायाम करने के अभिलाषी हों उनके लिए यथासमय परिमित पुष्टिकर सात्त्विक आहार, नियमित कार्यकलाप, उद्वेगशून्य जीवन, स्वास्थ्यकर निर्जन स्थान, विशुद्ध वायु, कोष्ठशुद्धि, मितभाषिता—ये सब आवश्यक हैं। और सर्वोपरि ठीक ठीक ब्रह्मचर्यरक्षा आवश्यक है। इन सब का व्यतिक्रम होने पर हृद्‌रोग या मस्तिष्क-रोग होने की सम्भावना है।

---

११. जप-ध्यान करते करते जब मन स्थिर हो जायगा, शुद्ध हो जायगा, तब मन ही तुम्हारा गुरु होगा, अपने अन्तर से ही सब विषय समझ पाओगे, संशय और प्रश्नों का समाधान होगा। तुम्हें साधना में आगे क्रमशः क्या क्या करना होगा, कैसे चलना होगा, मन ही यह सब बतला देगा।

---

१२. जप करते समय इष्टमूर्ति का ध्यान भी अवश्य करो। नहीं तो जप जमता नहीं। पूर्ण मूर्ति ध्यान में न आने पर भी जितनी जो कुछ आय उसे लेकर ही ध्यान प्रारम्भ करो। न कर सकने पर भी बार बार चेष्टा करो। न आय तो छोड़ क्यों दोगे? मैं छोड़नेवाला आदमी नहीं हूँ इस दृढ़ता के साथ करना ही होगा। ध्यान क्या सहज ही, मन में लाते ही, हो जाता है? मन को अन्य विषयों से पूरी तरह खींचकर ध्येय वस्तु में स्थिर रखने की बार बार चेष्टा करनी पड़ेगी; और यह करते करते ही होगा।

---

१३. जप--करगणना, माला फेरना, गिनती रखना, ये सब केवल मन को अन्य विषयों से हटा लाने के लिए हैं, उसे पकड़ रखने के लिए हैं। ऐसा न करने पर मन कब इधर-उधर चला गया है और कब तन्द्रा आ गयी है, नहीं जान पाओगे। इसीलिए इन सब से शुरू में कुछ विक्षेप होने पर भी, इस तरफ निगाह रख सकोगे, सहज ही तन्द्रादिक को पहचान पाओगे और मन को उधर से खींचकर ध्येय वस्तु की ओर आकृष्ट कर रख सकोगे।

१४. अपने को कदापि कमजोर न समझो। अपने स्वयं पर खूब विश्वास रखो। सोचो, मेरे लिए क्या असाध्य है, मैं मन में ठान लेने पर सब कुछ कर सकता हूँ। मन के सम्मुख पराजय स्वीकार क्यों करोगे? समझ लो, मन को वश में ला सकने पर सारा संसार तुम्हारे वशीभूत हो जायेगा, तुम विश्वविजयी बन जाओगे। जिसका अपने स्वयं पर भरोसा नहीं, उसका ईश्वर पर भी विश्वास नहीं जमता। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, जिसको खुद पर विश्वास नहीं, वही यथार्थ में नास्तिक है। जिसको आत्म-विश्वास नहीं, उसकी बात कोई नहीं सुनता, भगवान भी उसकी बात (प्रार्थना) नहीं सुनते।

---

१५. जिस अवस्था में स्थिर होकर (बिना हिलेडुले) और सुख से (आराम से) काफी समय तक बैठते बने—उसे ही आसन कहते हैं। किन्तु मेरुदण्ड को सीधा रखना

होगा और वक्ष:स्थल, गर्दन तथा मस्तक सीधी हालत में रखने होंगे, मानो देह का समस्त भार पसलियों पर गिरता हो, पर वक्ष:स्थल नीचे की ओर न झुक जाय। नीचे झुककर बैठना बिलकुल ही स्वास्थ्यकर नहीं है।

---

१६. संसार असार, अनित्य है; केवल वे ही एकमात्र सार सत्य हैं, यह भाव जब तक मन में दृढ़ नहीं हो जाता, तब तक ध्यान करते समय मन चंचल होगा ही। इन्द्रिय-सुखों की ओर जितना वैराग्य होगा, उतना ही भगवान पर अनुराग बढ़ेगा, मन भी उतना ही एकाग्र होगा। उनके दिव्य प्रेम का कणमात्र आस्वाद मिलने पर जगत् के सारे सुख तुच्छ और घृण्य हो जायँगे।

---

१७. जप, ध्यान, पूजा, प्रार्थना, स्मरण-मनन, सद्ग्रन्थपाठ, सत्संग, सदालाप, एकान्तवास और आत्म-चिन्तन -- जब जो भाव आये और करने की इच्छा हो तथा जो अच्छा लगे और करने की सुविधा हो, उसे ही करो। फिर भी ध्यान-जप ही असल चीज है, इसमें रोगराई और कितनी ही विपत्ति आ पड़ने पर भी एक दिन के लिए भी नागा नहीं करना। अधिक न कर सको, या सुविधा न हो, तो कम से कम १०-१५ मिनट भी तो प्रणाम, प्रार्थना और जप कर लिया करो।

---

१८. डाक्टरी किताब पढ़कर अपने रोग का निर्णय

करने बैठना और औषधि खाना एक अक्लमन्द आदमी का काम नहीं। रोग होने पर डाक्टर का परामर्श आवश्यक है। इसी तरह कुछ किताबें और शास्त्रग्रन्थ पढ़कर, उन्हीं के अनुसार साधना करने पर, चित्त में भ्रम पैदा हो जाता है--सब घोटाला हो जाता है। एक समान उन्नति नहीं हो पाती, और तो और, कितने ही बार व्यर्थ का श्रम और खुद का अनिष्ट तक हो जाता है। कारण यह है कि शास्त्रों में अधिकार-भेद से या अवस्थानुयायी, एक ही विषय पर विभिन्न या परस्पर-विरोधी उपदेश या साधनपद्धतियाँ हैं। ठीक तुम्हारे लिए उनमें से कौन उपयोगी है इसका खुद ही निर्णय करना कितने ही बार महा विपज्जनक हो सकता है। इस विषय में श्रीगुरु ही ठीक मार्ग बतला सकते हैं। इसीलिए तो गुरुमुख से ज्ञानलाभ करने की जरूरत है। वे जो दीक्षा या शिक्षा दें, समझना कि वही तुम्हारा एकमात्र पथ है। उसमें और उनके प्रति सम्पूर्ण श्रद्धा, विश्वास रखकर, निष्ठापूर्वक साधन-भजन करने से, समय आने पर निश्चय ही सिद्धि-लाभ होगा। किसी दूसरे के कहने से उस मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग कभी भी मत पकड़ना; यदि ऐसा किया तो रास्ता भूलकर भटकना ही हाथ में रहेगा और त्रिकाल में भी कुछ हाथ नहीं लगेगा।

---

१९. विश्वास से असम्भव भी सम्भव हो जाता है। विश्वास जमीन के टीलों पर डोंगे चला देता है, संशय से घुटने भर पानी में ही डूब मरने की नौबत आ

जाती है ।

---

२०. आशा ही जीवन है, सारी शक्ति और चेष्टाओं का प्रस्रवण है । आशा छोड़ते ही मनुष्य को निर्जीव, जीवन्मृत हो जाना पड़ता है । "जब तक साँस, तब तक आस" । ईश्वरप्राप्ति के लिए मृत्युक्षण उपस्थित होते तक आशा का परित्याग न करो । वे, अपनी इच्छा से, चाहे जब कृपा कर सकते हैं । शायद वे अन्तिम समय में ही दर्शन दें, ऐसा विश्वास धारण किये रहो ।

---

२१. प्रभु ने जब अपनी असीम अनुकम्पा से, गुरुमुख द्वारा अपना सिद्धमन्त्र दिया है, उन्हें प्राप्त करने की गुरुकुंजी ही दे दी है -- तब समझ लो उन्होंने अपने आपको वितरित कर दिया है । अब तुम्हें उसकी धारणा होने की जरूरत है । यदि इस अमूल्य रत्न को असावधानी और अवहेलना से खो बैठो तो समझना तुम उनकी कृपा के सर्वथा अयोग्य हो । और उसकी इज्जत करने का अर्थ है--गुरुदत्त मन्त्र और उपदेश का, वस्तुलाभ होते तक, सर्वान्तःकरणपूर्वक साधन और पालन करना । तभी श्रीगुरु के ऋण का यत्किंचित् बदला चुकेगा । भगवान को जितना ही अधिक अपने आत्मीय से भी अधिक आत्मीय समझोगे, उतना ही तुम उनकी कृपा के अधिकारी होगे, और उनकी कृपा से इसी जीवन में जीवन्मुक्त, नित्यानन्दमय हो जाओगे ।

---

२२. जब तक ईश्वर के प्रति प्रेम और अनुराग हृदय में नहीं उत्पन्न होता तब तक संसार कभी भी अनित्य और असार मालूम नहीं पड़ेगा। मन तो एक ही है, दो तो नहीं, और मन को भिन्न भिन्न भागों (compartments) में विभक्त भी नहीं कर सकते, जिससे कुछ तो भगवान की ओर लगा सके और कुछ विषयवासना से भरा रहे। सम्पूर्ण मन परमेश्वर में समर्पित हुए बिना उन्हें प्राप्त करना असम्भव है, और परिणाम में बार बार आवागमन और अनन्त दुःखभोग करना पड़ता है।

---

२३. संसारत्याग करने के लिए संन्यासी बनकर वन में जाना पड़ेगा ऐसी बात नहीं है। असल त्याग होता है मन में। मन से त्याग होते ही फिर चाहे संसार में रहो या वन में, एक ही बात है। मन से त्याग न होने पर, वन में जाने पर भी संसार साथ साथ जायगा और सब भोग भोगायेगा, बच नहीं पाओगे।

---

२४. यदि संसारी जीवन ही बिताना पड़े तो भगवान को लेकर अपना संसार करो। जो कुछ भी करो, देखो, सुनो, सोचो कि सभी भगवान है। भगवान के साथ ही क्रीड़ा, माँ ही अपनी क्रीड़ासखी है। माँ हमें लेकर खेल रही है, यह समझ लेने पर संसार एक नया रूप धारण करेगा। तब देखोगे संसार में सुख भी नहीं, दुःख भी नहीं, अभाव नहीं, अशान्ति नहीं, राग, द्वेष, लोभ, ईर्ष्या, मोह

नहीं, स्वार्थ, द्वन्द्व, मैं-मेरा नहीं, अपना-पराया नहीं, छोटा-बड़ा नहीं,—केवल है अटूट आनन्द, असीम प्रेम। उस आनन्द का लेशमात्र मिलने से विषयों का आनन्द तुच्छ हो जाता है, उस प्रेम का कणमात्र मिलने से सारा जगत् आत्मीयतम हो जाता है, प्रति रोमकूप में अपार्थिव सुखभोग का आनन्द आता है। इस खेल में भय नहीं, चिन्ता नहीं, बन्धन नहीं, अवसाद नहीं, नित्य ही नये नये खेल। माँ न जाने कितने खेल जानती है, कितने रूपों में, कितने प्रकार से खेलती है उसका कोई ठिकाना नहीं, सोचकर हमें आत्मविस्मृत हो जाना पड़ता है, तन्मय हो जाना पड़ता है। तब खेल बन्द हो जाता है, कौन किसके साथ खेले! वह भाव, वह अवस्था मन-वाणी के परे है! कैसा अद्भुत मजा है! "वह जाने जो ज्ञाता है।"

---

२५. संसार के सब सुख चाहिए और भगवान भी चाहिए, ऐसा नहीं हो सकता।

---

२६. यदि भगवान आकर कहें, कि तू मुझे चाहता है या स्त्री-पुत्र, नाती-पोती लेकर, ऐश्वर्यशाली होकर स्वस्थ शरीर से शताधिक वर्ष जीवित रहना चाहता है? —तो देखोगे कि करोड़ लोगों में मुश्किल से एक-आधे को छोड़कर शेष सब पिछली वस्तु ही चाहेंगे।

---

२७. यदि भगवान को पाना है तो सोलहों आना मन-

प्राण समर्पित करना होगा, एक पाई कौड़ी कम होने से भी नहीं चलेगा। हम चाहते हैं कि बिना किसी खटपट के, सहज ही सब बातों को बचा रखकर शायद हम उन्हें मिला लें और फिर यदि गुरु कृपा करके मिला दें तो फिर बात ही क्या है! ऐसा क्या कभी होता है?

"परमात्मा तुमसे रत्ती-रत्ती का हिसाब लेगा।"

---

२८. जो उन्हें चाहता है वह उन्हें प्राप्त कर लेता है। जो न चाहे, उसे पंचभूत नचायें।

---

२९. विज्ञापन में पढ़कर आठ आने तोला सोना खरीदने को कितने ही टूट पड़ते हैं। पर असली सोना ही सोना है, अन्य सोना, सोना नहीं, वह खोटा ही ठहरा। गाँठ के आठ आने भी नष्ट!

---

३०. प्रार्थना जमी-बँधी आवृत्ति ही नहीं है—उसका कोई फल नहीं होता। जो प्रार्थना करते हो, उसके लिए अन्तःकरण से ठीक ठीक अभाव-बोध होना चाहिए। उस अभाव की चोट से महाकष्ट और यातनाभोग का अनुभव होना चाहिए। कैसे क्या करने से वह मिलेगा, उसके लिए व्याकुल होना पड़ेगा, हजार कठिन और कष्टसाध्य होने पर भी प्राणपण से चेष्टा करनी होगी, मानो उसके पाने पर ही तुम्हारा जीवन-मरण निर्भर है—तब तो प्रार्थना सफल होगी, जो चाहते हो वही पाओगे। ऐसी प्रार्थना ही भगवान्

सुनते हैं और पूर्ण करते हैं।

---

३१. ज्ञान, भक्ति, धर्म, स्वयं उपार्जित करना पड़ता है; खूब ही प्रयत्न करना पड़ता है, तभी वे 'अपने' बनते हैं, स्थायी होते हैं और मन उनसे भरपूर बना रहता है। कोई किसी को ये सब दे नहीं सकता। साधना चाहिए, तब सिद्धिलाभ होता है। जैसी साधना वैसी सिद्धि। जो चीज बिना साधना या प्रयत्न से मिल जाती है उसका कोई गुरुत्व नहीं रहता, उसकी कोई कदर भी नहीं होती और उसे पाकर भी उतना सुख प्राप्त नहीं होता। वह जैसी सरलता से आती है वैसी ही सरलता से चली भी जाती है। संसार के नाना घात-प्रतिघात, आपत्ति-विपत्ति और विभिन्न परीक्षाओं और प्रलोभनों में वह कोई काम ही नहीं आती, न मालूम कहाँ गायब हो जाती है। धर्मभाव को अपना निजस्व बनाने का अर्थ है अपने को पूर्णतः उसी भाव में रँग डालना, जिससे खुद का पूर्वस्वभाव परिवर्तित होकर मानो एक नया व्यक्तित्व प्राप्त करना—इसी शरीर में नया जन्म हो जाना। यह क्या मामूली बात है? इस कार्य को उठाकर, जीवन तक का मूल्य चुकाने की तैयारी से, कमर कसके लगना पड़ता है, तब होता है। और जब तक न हो, अविराम और अनन्य मन से साधना करते जानी पड़ती है।

---

३२. खुद को दे डालो तो खुद को भी पाओगे और

पराये भी अपने हो जायँगे। जितनी ही अपने को बचाने की कोशिश करोगे, उतना ही अपने को खोओगे और अपने भी पराये हो जायँगे।

---

३३. अविराम संग्राम चलाओ! वीर के माफिक लड़ो, पीछे फिरकर मत देखना, बढ़े चलो! अवसन्न या क्षतविक्षत कुछ भी होओ, उस ओर निगाह तक न करो। अभीः अभीः—भयशून्य बनो। पराजय की बात भी मत सोचो! या तो मन्त्र-साधन, या शरीर-पतन। या तो जय हो, या देहपात। मरना ही पड़े तो वीर की मौत मरो। तब तो किला फतह होगा।

---

४३. मैं तो अत्यन्त दुर्बल और दीनहीन हूँ, मुझसे तो कुछ नहीं बन सकेगा, ऐसा रोना रोते कुछ नहीं मिलेगा। ये सब महा लापरवाह, अकर्मण्य और नपुंसक लोगों के लक्षण हैं। उनसे क्या कुछ भी काम होने की आशा है? उठो, जागो, लग पड़ो तब तो होगा! रास्ते की दूरी बहुत है और वह दुर्गम है ऐसा सोचकर बैठे रहने से क्या रास्ता पार होगा? उठो, रास्ते पर चलना शुरू करो, चलते ही दूरी कम होने लगेगी। तभी तो कुछ दिलासा मिलेगा, साहस पैदा होगा, बल प्राप्ति होगी और अप्रत्याशित सहायता भी मिलेगी। मार्ग भी क्रमशः सहज और सरल होने लगेगा। देखते देखते गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाओगे। तब आनन्द ही आनन्द है!

---

३५. बहुतों की धारणा होती है कि सद्गुरु के पास मन्त्रदीक्षा ले लेने से उनकी कृपा से सब दुःख दूर हो जायँगे। तब असाध्य रोग हट जायगा, मन के माफिक नौकरी लग जायगी, सब संसारी सुख-सम्पत्ति भी मिलेगी, कन्याओं की चिन्ता के बोझ से छुट्टी मिल जायगी, स्कूल-कालेज की परीक्षाओं में पास हो जायँगे, कचहरी के मामले जीत जायँगे, रोजगार की उन्नति होगी, संसार की ज्वाला-यन्त्रणा-अशान्ति दूर हो जायगी, शनि की दशा कट जायगी, और इसी तरह क्या क्या न हो जायगा! उनको मालूम होना चाहिए कि दीक्षा या धर्मलाभ के साथ इन सब संसारी फायदे के कार्यों का तनिक भी सम्बन्ध नहीं। और इन सब के लिए गुरु के पास ऐसी मूर्खतापूर्ण माँग पेश करना महा हीनता है और यह धर्मभाव का लक्षण तो है ही नहीं। गुरु कोई कर्ता, हर्ता, विधाता तो हैं नहीं। उन्हें इन सब के लिये हैरान करना, उबा डालना तो सब से बड़ा अन्याय है। इसमें उनके आशीर्वाद देने की अपेक्षा उनका नाराज होना ही ज्यादा सम्भव है। उनके साथ एकमात्र पारमार्थिक ही सम्बन्ध है।

---

३६. सकाम भाव से सेवा या उपासना तो केवल दूकानदारी है, उससे ठीक ठीक धर्मोपलब्धि नहीं होती, जो फलप्राप्ति भी होती है वह अति सामान्य, तुच्छ, अस्थायी और सहज ही नष्ट हो जानेवाली होती है, सकाम उपासना से चित्तशुद्धि नहीं होती और न उससे भक्ति-मुक्ति, शान्ति या आनन्द की प्राप्ति होती है। भगवान श्रीरामकृष्ण सकाम

भाव से दी हुई वस्तु ग्रहण करना तो दूर, छू तक नहीं सकते थे।

---

३७. यदि उन्हें इसी जीवन में प्राप्त करना हो तो अपने समस्त शक्ति-सामर्थ्य के साथ साधन-भजन करना पड़ेगा, उहें अपना सर्वस्व अर्पण करना होगा, सोलह आने से ऊपर भी, सम्भव हो तो दे देना होगा। श्रीरामकृष्णदेव रुपये में पाँच चवन्नी पाँच आने भक्ति-विश्वास की बात कहते थे। वह ऐसा था जैसे पात्र मुँह तक इतना भर जाय कि ऊपर से नीचे खूब छलकने लगे। ऐसा कितनों का होता है? फिर भी निराश होने का कोई कारण नहीं। अपनी शक्ति के अनुसार यथासाध्य करते चलो। समझना कि चाहे जितना करो, उनकी प्राप्ति के लिए वह सब कुछ नहीं के बराबर है, उनकी कृपा के बिना कुछ भी होने को नहीं है।

---

३८. फिर, कृपा उनकी उस पर ही होती है जिसे वे देखते हैं कि वह शक्ति भर कर रहा है, अपने को बिलकुल भी बचाकर नहीं चलता, भयानक तरंगों में पड़ जाने पर भी पतवार नहीं डाल देता, जो खूब ही जूझने के बाद समझ पाया है कि उनकी कृपा के सिवा, स्वप्रयत्न से उन्हें प्राप्त कर सकना असम्भव है। जब उसे चारों ओर घोर अन्धकार दिखता है, कोई कूल-किनारा नहीं, अत्यन्त थक जाने से और अधिक तैरने में असमर्थ होकर, बार बार डुबकी खाते खाते अन्त में पूर्णतः डूब जाने लायक हो जाता है, उसी

समय वे उसे अपने करकमलों से उठा लेते हैं, उसे जन्म-मृत्यु के उस पार ले जाते हैं जहाँ अनन्त आनन्द, अनन्त शान्ति विराज रही है—जिस आनन्द का लेशमात्र पाकर जीव अपने को परम सुखी समझता है।

३९. संसार से इतना डरने पर कैसे चलेगा? वीर होने की जरूरत है, संसार को तुच्छ समझना चाहिये। मैं अत्यन्त दुर्बल, हीन और नाचीज हूँ, मुझसे कुछ नहीं बनेगा, मैं कुछ नहीं कर सकूँगा—ऐसे भावों को पूर्णतः न हटा सको तो कभी भी कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकोगे। इन सब भावों को मन से झाड़कर फेंक दो और वीर के समान कहो, "मेरे लिए असाध्य ही क्या है?—मैं अमृतपुत्र हूँ, अमरत्व मेरा जन्मसिद्ध हक है, संसार की कोई भी शक्ति मुझे उससे वंचित नहीं कर सकती।"

४०. जब कभी भी मन में दुर्बलता या अवसाद भाव का उदय हो, इस श्लोक को बार बार पढ़ने लगो—

"अहं देवो न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक्।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्त-स्वभाववान्॥"

मैं देवता हूँ, अन्य कुछ नहीं; मैं साक्षात् ब्रह्मस्वरूप हूँ—शोक मुझे स्पर्श भी नहीं कर सकता। मैं सच्चिदानन्दस्वरूप—नित्यमुक्त-स्वभाव हूँ। ॐ तत् सत् ॐ।

४१. जितना हो सके उनका स्मरण-मनन करो, एक उन्हें

ही "अपना आदमी" समझो, उन्हें आत्मीयतम समझो। जो तुम्हारे इहकाल और परकाल के एकमात्र आश्रय और सम्बल हैं उन्हें ही सर्वान्तःकरणपूर्वक प्रेम करो। जो जिसे प्यार करता है, उसकी ही बातें सोचता रहता है, सोचते हुए उसे सुख मिलता है, आनन्द मिलता है; उसे पा लेना चाहता है, पाकर उसे सदा हृदय में धारण किये रहना चाहता है, उसे बिलकुल ही आपना बना लेना चाहता है। दूसरी बात या काम फिर उसे अच्छे नहीं लगते, और किसी की उसे इच्छा ही नहीं रहती। सब का विच्छेद है, अन्त है, पर भगवत्प्रेम का अन्त नहीं, वह तो अक्षय भण्डार है। जितना पान करोगे, उतनी प्यास बढ़ेगी, अन्त में आनन्द में विभोर होकर, आत्मविस्मृत होकर, तन्मय हो जाओगे। तभी जीवत्व मिटकर देवत्व मिलेगा, शवत्व हटकर शिवत्व पाओगे, मृत्यु के स्थान पर अमृतत्व प्राप्त करोगे।

---

४२. उपदेश तो कितने ही सुने हैं, किताबों में पढ़े भी हैं। पर उसका कुछ अंश भी यदि जीवन में न पाल सको तो हजार उपदेश देने पर भी सब निष्फल ही है। कोई दूसरा तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर दे सकेगा, खुद को ही करना पड़ेगा। जो अपने जीवन-मरण की कीमत चुकाने को भी कटिबद्ध होकर लग जाता है, भगवान उसी की सहायता करते हैं, उसी पर कृपा करते हैं। और तो और, वे उसका समस्त भार भी अपने कन्धों पर लेकर उसे मार्ग में दूर तक पहुंचा आते हैं। प्रथम पुरुषकार, बाद में कृपा, अन्त

में वस्तुलाभ।

४३. ठीक ठीक धर्मोपलब्धि बड़ी मुश्किल बात है, हर किसी को नहीं हो जाती। भीतर कुछ पदार्थ, सार चाहिए— सुकृति, शुभ संस्कार, सरलता, आन्तरिकता, अभावबोध, यही सब। "भीगे असार काठ" देखकर इतने दयालु भगवान श्रीरामकृष्ण भी उनकी ओर निगाह उठाकर नहीं देखते थे। कहते थे इनका इस जन्म में नहीं होगा। भीगे काठ यानी घोर संसारी बद्ध जीव।

४४. जोर जबरदस्ती करके ज्यादा जपध्यान नहीं करना चाहिए जिससे अतिरिक्त थकावट या अवसाद का अनुभव होने लगे। उससे कभी हित का अहित हो जाता है। जप-ध्यान को क्रम से धीरे धीरे बढ़ाना उचित है। आन्तरिकता और दृढ़ संकल्प हुआ तो प्रभु-कृपा से समय आने पर सब होगा और सब मिलेगा।

४५. खूब निष्ठा, अध्यवसाय और धैर्यपूर्वक जप-ध्यान करते चलो। धीरे धीरे मन स्थिर होगा, ध्यान जमेगा,— और वह एक नशे की आदत-सा हो उठेगा। एक भी दिन नहीं किया तो कुछ भी अच्छा नहीं लगेगा, महा अशान्ति का अनुभव होगा, जैसा नशाखोरों को नशे की वस्तु न मिलने पर होता है। तब सभी फीका फीका लगेगा। इच्छा होगी सदा उसी में ही डूबा रहूँ।

४६. शिव और शक्ति, पुरुष और प्रकृति—दोनों एक, एक में दोनों, परमार्थतः अभेद हैं। भेदकल्पना तभी तक है जब तक हमारी द्वैतबुद्धि है, उपास्य-उपासक भाव है।

---

४७. गुरु, इष्ट और देवी-देवताओं के सपने देखना बड़ा अच्छा है। इससे मन में काफी उत्साह, आनन्द होता है। पर न देख पाने से मन खराब करने की जरूरत नहीं। ऐसे स्वप्न देखकर चाहे जिसके पास न कहते फिरो, चाहो तो गुरु को कह सकते हो। और स्वप्न के प्रत्येक अंश का क्या अर्थ है इसे लेकर अपना सिर न घुमाओ। स्वप्न, स्वप्न ही है, उसमें कोई नियमित सामंजस्य-सूत्र होगा ऐसी आशा करना वृथा है। वह तो एकमात्र ईश्वरीय आदेश या ध्यान में साक्षात् दर्शन या उपलब्धि में ही सम्भव है, जिसकी सत्यता के विषय में किंचिन्मात्र भी सन्देह का अवसर नहीं रहता और जिसे पाकर मनुष्य का जीवन ही बदल जाता है—मनुष्य देवता हो जाता है। और ऐसा चाहे जिसको नहीं हो जाता, उसके लिए विपुल साधना और उनकी कृपा की अपेक्षा है।

---

४८. किसी किसी को स्वप्न में मन्त्र मिल जाता है। पर देखा जाता है, अनेक जगह वह शास्त्रानुमोदित नहीं, अथवा वह खुद की चिन्ता-कल्पना से उचित हुआ होता है। फिर भी दृढ़ विश्वास और निष्ठा के साथ जप करते रहने पर, समय पर उससे भी सिद्धि-लाभ हो सकता है।

---

४९. एकान्त जगह में, क्षीण प्रकाश या अन्धकार में ध्यान करना चाहिए, कपड़ेलत्ते ढीले रखने चाहिए; मुँह बन्द करके नाक से ही श्वास-प्रश्वास निकले । ध्यान के समय इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने की चेष्टा करनी चाहिए। आँखें बन्द कर (मानस) दृष्टि, हृदय में अर्थात् अपने अन्तर के भी अन्तर में रखनी चाहिए और सोचना चाहिए कि इष्ट वहीं विराज रहे हैं ।

---

५०. ध्यान करते समय देहात्मबोध, यानी यह शरीर ही मैं हूँ, इस भाव को भुला दो, खुद को अहं-अभिमानी बोधस्वरूप सूक्ष्म सत्ता अनुभव करो और इष्ट को सोचो उपाधि-रहित नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-चैतन्यस्वरूप । वे तुममें, तुम्हारे बोध में बोधस्वरूप से निवास करते हैं और तुम भी उनमें, उनके बोध में बोधस्वरूप से रहते हो । ये बातें साधनासापेक्ष हैं । बातचीत में बतलायी नहीं जा सकतीं । "पाशबद्ध जीव, पाशमुक्त शिव ।"

---

५१. ध्यान करते समय सोचो "हे प्रभो, परमार्थतः मैं तुम्हारा ही स्वरूप हूँ, केवल माया-मोह से बद्ध होकर 'मैं-मैं' 'मेरा-मेरा' करते, देह में आत्मबुद्धि करके, कुचिन्ता, कुवासना, कुवृत्ति के वश में होकर, मेरी ऐसी दुर्दशा हुई है; मैं रोग-शोक-दुःख-दैन्य-भय और भावना-ग्रस्त; दीन, हीन, मलिन; मृत्यु के वश में, विषयों के अधीन; असहाय, निरुपाय, निःसम्बल, क्षुद्र, दुर्बल, अपदार्थ हो चुका हूँ । हे

प्रभो, तुम अपने गुणों से मुझ पर दया करके मेरी समस्त पापराशि, दोषराशि, अभावराशि, दुर्दशाराशि जड़ से नष्ट कर दो, जिससे कि मैं तुम्हारे नित्य सत्य स्वरूप की प्राप्ति कर सकूँ ; अपने यथार्थ स्वरूप –– नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभाव –– की उपलब्धि कर सकूँ ; मेरे अन्दर जो अनन्त शक्ति निद्रित निर्जीव अवस्था में पड़ी है, उसे जागृत कर सकूँ।

---

५२. ध्यान करते समय थोड़ी कल्पनाशक्ति आवश्यक होती है। खाली असंस्कृत शुष्कभाव और जड़दृष्टि होने से काम नहीं बनेगा। शरीर के भीतर जो षट्चक्र –– छः कमल या स्नायुग्रन्थियाँ (Nerve Plexus) हैं उनका स्थूल अस्तित्व नहीं है और वे आँखों से दीख नहीं पड़तीं। उनकी कल्पना करके, उन्हें महाशक्ति का आधार समझकर, उनमें इष्टमूर्ति का ध्यान किया जाता है। जितना ही ध्यान प्रगाढ़ और गम्भीर होगा, उतना ही चित्त शुद्ध और स्थिर होगा, और भीतरी प्रसुप्त शक्ति, उतनी ही जागृत और विकसित होगी।

---

५३. प्राणायाम आँख मूँदकर करो। तब इष्टमूर्ति का ध्यान न करके नियमित संख्या में जप करो और श्वास-प्रश्वास की ओर निगाह रखो। बायें हाथ की अंगुलियों के पैरों पर अंगुली रखते हुए जैसी गिनती करते हैं, उसी तरह से गिनती रखो। श्वास भीतर लेते समय सोचो कि

पवित्रता, दया, बलवीर्यादि सद्गुण तुम अपने भीतर खींच ले रहे हो ; और प्रश्वास छोड़ते समय सोचो कि तुम्हारे भीतर के कुभाव, मलिनता, संकीर्णता, मत्सर, पापबुद्धि आदि सब मैली चीजें बाहर निकाल दे रहे हो ।

---

५४. ध्यान करते समय इष्ट मेरे अन्तःकरण में, हृदय-कमल पर विराज रहे हैं, ऐसा ध्यान न हो सके तो वे मेरे सन्मुख साकार रूप से कमल या सिंहासन पर अवस्थित हैं इस तरह भी कर सकते हो । पर पहला ज्यादा प्रशस्त और श्रेष्ठ है । कारण, उससे उन्हें अपने अन्तःकरण के भी अन्तर में रखा और देखा जाता है । दूसरे में उन्हें बाहर सोचना पड़ता है । तो भी उन्हें क्रमशः अपने अन्तर में देखने और अनुभव करने की चेष्टा करो । जो जिसे अत्यन्त प्यार करता है वह उसे अपने अन्तर के अन्तर में ही रखना चाहता है; उसकी इच्छा होती है मानों उसे हृदय के अन्तस्तल में रख दूँ । "मन, तुम देखो और मैं देखूँ, और कोई न देखने पाय ।"

---

५५. सुबह-शाम यदि अधिक जप-ध्यान करने का अवसर न मिले तो अन्य समय, जब हाथ में कोई काम न हो, तब बैठकर, लेटे हुए, या खाने के बाद एक दो घण्टा आराम कर लेने के पश्चात् या यदि निद्रा व आलस्य न आय तो शेष-रात्रि में बिस्तर पर बैठे हुए भी कर सकते हो । पर आसन पर बैठकर यथाविधि करने से प्रायः अधिक मनःसंयम होता है । चलते फिरते या कुछ भी काम करते समय, स्मरण-

मनन के माफिक मन ही मन जप कर सकते हो। पर ऐसी अवस्था में ध्यान न करो, कारण, अन्यमनस्क होने से कोई दुर्घटना (accident) होने की सम्भावना रहती है। समय सबसे अनमोल चीज है, जीवन क्षणस्थायी और अनिश्चित है, एक मिनट भी व्यर्थ न गमाओ।

---

५६. गुणदोषों से ही मनुष्य निर्मित है। सब में ही थोड़े बहुत अच्छे-बुरे गुण होते हैं। पराये दोष और गलतियाँ न ढूँढ़कर अपनी ढूँढ़ो। दूसरों के गुणों को और अपने दोषों को बढ़ाकर देखना तथा दूसरों के दोष और निज के गुणों को छोटा करके देखना। मक्खी मवाद से भरे व्रण पर बैठती है और मधुमक्खी फूल पर। परचर्चा से आत्मचिन्तन में क्षति होती है।

---

५७. एक अवतार पुरुष ही दोषत्रुटिशून्य और सर्वगुणान्वित हो सकते हैं। दूसरों की तो बात ही क्या, सिद्ध पुरुष, आचार्य और सद्‌गुरु के भी व्यावहारिक जीवन और कार्यों में कुछ न कुछ गलती, दोष और भ्रमप्रमादादि सम्भव हैं, रह सकते हैं, परन्तु उनके सद्‌गुण इतने अधिक होते हैं कि उनके किंचित् दोष भी भूषण-स्वरूप हो जाते हैं, और जो जिसे हार्दिक प्रेम करता है, उसका कुरूप या दोष प्रेमी की नजर में ही नहीं पड़ता।

---

५८. गुरु के प्रति अकपट श्रद्धाविश्वास यदि नहीं हुआ तो आध्यात्मिक जगत् में उन्नति कर सकना मुश्किल

ही है। गुरुवाक्य में कभी भी अविश्वास या संशय नहीं करना, गुरुवाक्य को वेदवाक्य ही समझना, श्रीगुरु के उपदेश को बिना सोचे-समझे भी सर्वान्तःकरणपूर्वक पालन करने की चेष्टा करो, (यदि वस्तुलाभ चाहिए।) समझ रखो कि गुरु के समान तुम्हारा इहलोक और परलोक दोनों का हिताकांक्षी और कोई नहीं। गुरूपदिष्ट मार्ग का निष्ठा के साथ साधन करना ही उनकी यथार्थ सेवा है। उसी से वे सर्वाधिक प्रसन्न होते हैं।

---

५९. पहले पहले मन में स्पष्ट उच्चारण करते हुए धीरे धीरे जप करना पड़ता है। इसी से देरी होती है और शायद घण्टे में दो तीन हजार से ज्यादा नहीं होता। धीरे धीरे अधिक अभ्यास होने पर जल्दी होने लगता है, तब प्रति घण्टे आठ दस भी अनायास ही हो जाता है। जप करते समय मन को मन्त्र और मन्त्र के प्रतिपाद्य इष्ट पर एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए।

---

६०. स्वयं यत्न किये बिना, गुरु ही तुम्हें वस्तुलाभ नहीं करा दे सकते। गुरु तुम्हारा मार्गप्रदर्शन कर सकते हैं, तुम्हारी सब भूल और संशय मिटा सकते हैं, विपथगामी होने पर सावधान कर दे सकते हैं, मार्ग में लगा दे सकते हैं, यहाँ तक कि हाथ पकड़कर कुछ दूर ले जा भी सकते हैं। पर रास्ता तो खुद को ही चलना पड़ेगा। वे कन्धों पर बैठाकर तो तुम्हें गन्तव्य स्थान पर पहुँचा नहीं आयँगे।

मार्ग दीर्घ और दुर्गम है इसमें सन्देह नहीं, पर इसीलिए, मुझसे तो बनेगा ही नहीं, कहकर बीच रास्ते में ही बैठ जाने, डरने या आशा छोड़ देने से तो कुछ नहीं होगा। या तो तुम आगे बढ़ोगे, या पीछे फिरोगे। फिरने पर जो कुछ पाया था वह भी गायब हो जायगा। जितना आगे बढ़ोगे उतना ही मार्ग सरल होता जायगा और शक्ति तथा आनन्द मिलने लगेंगे।

---

६१. खुद के भीतर कुछ सार पदार्थ यदि न हो तो बाहर की कितनी ही सहायता से भी कुछ नहीं होता। ऊसर, पथरीली जमीन में बीज बोकर, सिंचाई और निंदाई का क्या फल होगा? खराब जमीन को भी जैसे अनेक उपायों से ठीक किया जाता है वैसे ही विषयी लोग भी, गुरुदत्त उपदेश को सरल विश्वास, निष्ठा और अध्यवसाय के साथ यदि पालन करें तो, परमार्थफल की प्राप्ति कर सकते हैं। तब जीवन मधुमय, अमृतमय हो जायगा।

---

६२. बढ़े चलो, बढ़े चलो, इधर-उधर भ्रूक्षेप न करो। ज्योति-दर्शन इत्यादि को कुछ भी महत्त्व मत दो। ध्यान करते करते ऐसी कितनी तरह की चीजें आयेंगी, कैसे कैसे दर्शन होंगे, इनसे काफी आनन्द भी मिलेगा। परन्तु उनमें ही अटक न जाना। यदि ऐसा किया तो फिर आगे और नहीं बढ़ पाओगे। सब समय सम्पूर्ण दृष्टि आदर्श की ओर ही रहे, कैसे उनके प्रति अनुराग और प्रेम बढ़े, उनमें मन

तन्मय हो जाय, उनका साक्षात् दर्शन लाभ हो——मानो यही तुम्हारा एकमात्र काम्य और लक्ष्य रहे ।

---

६३. सिद्धाई, विभूति ये सब मनुष्य को सुख का प्रलोभन दिखाकर मायामोह में आबद्ध करते हैं, आदर्शभ्रष्ट कर देते हैं, ये केवल भगवत्प्राप्ति के मार्ग में विघ्नस्वरूप हों, इतना ही नहीं है, वे क्रमशः मनुष्य की अधोगति करते और उसका सर्वनाश कर डालते हैं । सिद्धाई से भक्ति-मुक्ति कभी नहीं मिलती, बहुत हुआ तो संसार में मान-यश और अभीप्सित सुख-भोग मिल जाते हैं । और इन्हें ही प्राप्त करने के लिए किसी दूसरे का सर्वनाश करने में भी मनुष्य पीछे नहीं हटता । इसीलिए सच्चे भक्त सिद्धाई को जहर के समान त्याग देते हैं ।

---

६४. हम प्रार्थना मुँह से ही करते हैं, अन्तःकरण से नहीं, इसीलिए कुछ फल नहीं होता । आन्तरिक होने पर वह फलीभूत होगी ही । जब मन में आय कि जप-ध्यान करने से कुछ भी फल नहीं मिल रहा है, तब खुद के भीतर कहाँ, क्या गलती है, पात्र के किस छिद्र से सब पानी निकल जाता है इसे ही ढूँढ़ निकालो और सुधारने की चेष्टा करो । संसार, विषय, और कामकांचनादि में पूरी मात्रा में आसक्ति रहते, जप-ध्यान से आत्मा का कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता । पर ऐसा सोचकर जप-ध्यान करना छोड़ ही नहीं देना चाहिए, समय आने पर फल मिलेगा ही, क्रमशः

विषयसुख असार और अलोने लगने लगेंगे और भगवान् की ओर आकर्षण तथा प्रेम बढ़ने लगेगा, उन्हीं में आनन्द मिलेगा।

---

६५. हम ऊपर ऊपर मुँह से ही मुक्ति चाहते हैं, सचमुच में नहीं। भगवान यदि आकर कहें "यह ले तुझे मुक्ति देता हूँ" तब हमें डर लगेगा, कहेंगे "नहीं, नहीं, अभी मुक्ति की जरूरत नहीं हैं; अभी मुक्ति मिल जाने से इनकी हालत क्या होगी? मर जाऊँ तब मुक्ति देना।" लकड़हारे का किस्सा याद है न? बोझ के भार से थककर उसने यमराज के पास प्रार्थना की थी, "और नहीं बनता प्रभो, मुझे मुक्ति दो।" जब उन्होंने आकर ले जाना चाहा तब वह कहने लगा, "ऐसा नहीं प्रभो, इस लकड़ी के बोझे को उठा देने के लिए तुम्हें पुकारा था।" बद्ध जीवों की दशा भी ऐसी ही है, वे यहाँ के दुःखों से ही मुक्ति चाहते हैं, असली मोक्ष नहीं।

---

६६. भगवान् को चाहोगे तो वे भी मिलेंगें; उनसे विषयसुख चाहो तो वे भी मिलेंगे। किन्तु दोनों के लिए कुछ खटपट करनी पड़ेगी, प्रयत्न न करने से किसी की भी प्राप्ति नहीं होगी। संसार के लिए क्या कम खटपट करनी पड़ती है? स्त्री और पुत्रकन्याओं के लिए, पैसे के लिए, विषय-सम्पत्ति के लिए, मान-यश के लिए, दिनरात आहार-निद्रा परित्याग करके देह-मन-प्राण देकर सब ही खटपट

कर रहे हैं, फिकर में पड़े हैं, एक क्षणभर के लिए विश्राम नहीं, कोई रियायत नहीं; फिर भी जो चाहते हैं वह मिलता नहीं और न आशा-आकांक्षा मिटती है। उसी तरह यदि भगवान् के लिए खटपट कर पाते, तो भगवत्प्राप्ति निश्चय ही होती। मणिकांचन फेंककर हम काँच में भूल रहे हैं। बारबार धक्के और ठोकरें खा रहे हैं, फ़िर भी अकल ठिकाने नहीं आती। ऐसी ही महामाया की माया है। भगवत्प्राप्ति, जैसी कठिन है वैसी ही सरल भी है, केवल मन की गति के झुकाव को फिरा देना आवश्यक है। पर यह वही कर सकता है जिस पर माँ की कृपा हो।

---

६७. बिना प्रयत्न के अभीष्ट-लाभ नहीं होता। एक बालक ही बिना प्रयत्न किये पाता है, वह जानता है, मेरी माँ सब जानती है। माँ को छोंड़कर वह और कुछ नहीं जानता। उसे जब जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, माँ उसे देती है, उसे अपने लिए सोचविचार नहीं करना होता। धर्मजीवन में भी बालक के समान होने की जरूरत है। बच्चे को जैसे ही भूख लगती है, वह रोता है, झट माँ सब कार्य छोड़ आकर उसे गोद में ले लेती है और दूध पिलाती है। फिर भी हुआ वही, बच्चे को भी रोना पड़ता है, अपना अभाव बतलाना पड़ता है। भक्त को भी उसी तरह भगवान् का नाम लेने की जरूरत है, भक्ति के लिए आकुल होकर प्रार्थना करने की जरूरत है, उनको पाने के लिए रोना पड़ता है। अन्य कोई वस्तु मिलने या उसे देने पर वह उसकी

तरफ मुड़कर देखता भी नहीं। वह चाहता है एकमात्र भगवान् को--उनके ऐश्वर्य को नहीं। पैसा-टका उस समय बिलकुल तुच्छ मालूम पड़ता है। रामप्रसाद ने गाया है--

(भावार्थ)

"साधारण धन से मेरा क्या मतलब है माँ! अरी, तेरे धन के बिना कौन रोता है? तारा! दूसरा धन देगी तो घर के कोने में पड़ा रहेगा। और माँ! यदि अभय-चरण देगी तो हृदय के पद्मासन पर सुरक्षित रखूँगा।"

---

६८. मन को कब्जे में लाना ही मुद्दे की बात है, वह यदि नहीं हो सका तो कुछ भी, कुछ नहीं। कहते हैं -- गुरु, कृष्ण और वैष्णव साधु इन तीनों की दया होने पर भी यदि 'एक' की दया न हुई तो जीव मिट्टी में मिल जाता है। यह 'एक' है मन। मन पर विजय प्राप्त कर सके तो संसार को जीता जा सकता है। इसीलिए तो इतने साधन-भजन की जरूरत है। श्रीरामकृष्ण एक गीत गाते थे --

(भावार्थ)

"मैं जिस मन्त्र को जानता हूँ, तुझे वही मन्त्र दिया। पर अब तेरे मन के हाथ में है। मन्त्र वही है जिससे मैं विपत्ति से पार हुआ हूँ और दूसरों को पार करता हूँ।"

---

६९. सद्गुरु सिद्धमन्त्र ही देते हैं, जिस मन्त्र को जपकर योगी-ऋषिगण सिद्ध हुए थे और जो गुरुपरम्परा से चला आ रहा है। वे तो मनगढ़न्त चाहे जो नहीं देते। मन्त्र

में कदापि अविश्वास या अश्रद्धा नहीं करनी चाहिए। लम्बी अवधि तक यथाविधि मन्त्र जप करने पर भी यदि मन की एकाग्रता और पवित्रता की प्राप्ति नहीं होती तो समझना कि मन्त्र का दोष नहीं है, तुम्हारी ही दोष-त्रुटि उसका कारण है। और उन्हें सुधारने की चेष्टा किये बिना, खाली ऊपर ऊपर मुँह से जप करके या दूसरा गुरु करके ही क्या होगा? मन और मुख दोनों का योग करके जप करना चाहिए। मन और मुख एक करना चाहिए।

---

७०. मन्त्र को महाशक्ति का आधार और इष्ट का ही स्वरूप समझना। स्थूल को पकड़कर सूक्ष्म, सूक्ष्म को पकड़कर महासूक्ष्म तक पहुँचना होता है,—जो मनवाणी से परे है, अवाङ्मनसगोचरम्।

---

७१. ध्यान का गूढ़ रहस्य है—जीवात्मा (अर्थात् अहं-अभिमानी चैतन्य) का, हृदय में (अन्तःकरण के अन्तस्तल में) अपने यथार्थ स्वरूप परमात्मा या सगुण-ब्रह्म परमेश्वर इष्ट को स्थापित करके, उनके ज्योतिर्मय, आनन्दमय, प्रेममय, रूप तथा भाव में, विषयासक्तिवर्जित मन को युक्त या तद्गत करने का अभ्यास करना। जब यह भाव परिपक्व होकर पूर्णता को प्राप्त करेगा तब वह निरवच्छिन्न तैलधारावत् प्रवाहित होगा—तभी मन इष्ट में तन्मय हो जायगा। इसी अवस्था को भाव या समाधि कहते हैं।

---

७२. प्रतिदिन निष्ठापूर्वक जपध्यान करने का अभ्यास करने से वह एक नशे के समान हो जायगा। और ध्यान जमने पर जैसे एक नशे का भाव हो जाता है, वह ध्यान के बाद भी न्यूनाधिक कुछ समय तक बना रहता है और उससे आनन्द की अच्छी अनुभूति होती है। इसीलिए ध्यान के बाद कुछ समय तक आसन-त्याग नहीं करना चाहिए और न संसारी विषय सम्बन्धी बातचीत करनी चाहिए। करने की इच्छा भी नहीं होती, रुकावट महसूस होती है, कष्ट होता है। ध्यान-प्रसूत इस भाव को, जितना हो सके, स्थायी करने की चेष्टा करनी चाहिए।

---

७३. शराबी या अफीमखोर जैसे समय पर नशे की चीज न मिलने पर महा अशान्ति बोध करते हैं, उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लगता, ठीक वैसी ही साधक की भी अवस्था उस दिन हो जाती है जिस दिन वह नियमित ध्यान-जप नहीं कर पाता। जिस विषय का भी अभ्यास करो, सभी में यह बात लागू होती है।

---

७४. "हम संसारियों के लिए भी क्या कुछ आशा है ?" क्यों न होगी ? खूब है। भगवान् क्या केवल संन्यासियों के हैं ? सभी उनकी सन्तान हैं। संसारी क्या नहीं हैं ? हम लोगों (संन्यासियों) का भी तो यह संसार है। देखो न, यही तुम सब (शिष्यगण) हो, तुम लोगों के लिए फिकर रहती है; मठ-मिशन के साधुओं के लिए

सोचना-विचारना पड़ता है, श्रीरामकृष्णदेव के कार्यों के लिए चिन्ता रहती है, लोगों के दु:ख-दारिद्रय, सुख-दु:ख की बातें सुननी पड़ती हैं, और उससे चित्त दु:खित होता है। पर फरक है--अपने लिए सोच-फिकर करना और दूसरों के लिए करना। विद्या का संसार और अविद्या का संसार। संसार में रहो, कोई क्षति नहीं; पर संसार तुम पर सवार न हो जाय इसका ख्याल रखो। बाहर से संसार में रहो, सांसारिक कर्तव्य-कर्म सब करते जाओ, पर भीतर जैसे त्याग का भाव, निष्क्रिय, निर्लिप्त भाव जागृत रहे।

---

७५. संसार मानो एक दीर्घ स्वप्न है ऐसा समझो। जब तक है, व्यावहारिक भाव से सत्य मानकर अपना कर्तव्य किये चलो। परन्तु यह धारणा भी बनाये रखो कि त्रिकाल में सत्य, नित्य वस्तु, एकमात्र भगवान् ही हैं, जिनकी प्राप्ति न होते पर्यन्त चरम सुख, शान्ति और मुक्ति नहीं। इतना दुर्लभ मानवजीवन पाकर--ऐसी सुविधा पाकर--भी यदि उन्हें पाने का प्रयत्न नहीं किया तो सभी व्यर्थ है।

---

७६. खुद के मन में जब तक संसार है, विषयवासना, आसक्ति है, तब तक बाहर से त्याग करने में कोई विशेष लाभ नहीं। बाहरी त्याग करके चाहे जहाँ भागकर जाओ--वन या पर्वत की गुफा में भी--संसार साथ साथ जायगा, किसी न किसी प्रकार से तुम्हें धोखा देगा। नये नये बन्धनों

में डालेगा। चाहे गृहस्थ हो या संन्यासी, यदि आदर्श के प्रति सर्वदा लक्ष्य नहीं रहा, आदर्श को मजबूती से मुट्ठी में पकड़कर नहीं रखा, तो पतन अनिवार्य है, कोई भी तुम्हें बचा नहीं पायगा।

---

७७. सदा होशियार--सजग--रहो। अपने मन पर कभी विश्वास नहीं करना। हजार उच्चावस्था प्राप्त होने पर भी अपने को जितेन्द्रिय नहीं समझना, कारण, फिर भी पतन हो सकता है। पाप, सूक्ष्म भाव से कभी कभी धर्म का रूप धारण कर, कभी दया का रूप धारण कर, कभी मित्र का रूप धारण कर तुम्हें भुलाकर वश में करने की चेष्टा करेगा। कब भुलावे में पड़कर परास्त हो जाओगे, समझ भी नहीं सकोगे। और जब समझ पाओगे, तब शायद लौटना ही असम्भव हो जाय।

---

७८. इससे तो शादी करके गृहस्थ होना अच्छा, कारण वह भी आश्रम है, आत्मिक उन्नतिसाधन का एक मार्ग है। किन्तु ब्रह्मचारी और संन्यासी यदि काम-कांचन का गुलाम हुआ तो वह अपने इहकाल और परकाल दोनों से भ्रष्ट हो जाता है। संसारत्यागी लोग और विधवाएँ, ज्ञानतः अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करें। इसमें असमर्थ होने पर विवाह करना धर्मानुकूल है--अपने और पराये कल्याण के लिए। सेण्ट पाल ने बाइबिल में कहा है, "कामाग्नि में दग्ध होने की अपेक्षा विवाह करना अच्छा है।"

---

७९. पुरुष या स्त्री प्रत्येक को ही कुछ न कुछ अर्थोपार्जनकारी विद्या या उद्योग सीख लेना नितान्त आवश्यक है, जिसके द्वारा खुद स्वाधीनतापूर्वक खटपट करके वह अपनी जीविका निर्वाह कर सकें। परवश होना महादुःखकर है, जीवन को भाररूप बना देता है, धर्मकर्म करना तो दूर की बात रह जाती है।

---

८०. गुरुदत्त मन्त्र की आप्राण साधना और उनके उपदेश को जीवन में पालन करने का प्रयत्न ही यथार्थ गुरुदक्षिणा है——उनके स्नेहभाजन होने और सिद्धि प्राप्त करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

---

८१. पिता सन्तान के सम्मुख, गुरु शिष्य के सम्मुख पराजित होने की अभिलाषा रखते हैं। वे यही चाहते हैं कि सन्तान और शिष्य उनकी अपेक्षा भी बड़े और महान् हों।

---

८२. भगवान ही गुरु के भी गुरु, परमगुरु हैं। वे ही यंत्री हैं, मानवगुरु उनके हाथ में यन्त्रस्वरूप हैं, जिसके द्वारा उनकी शक्ति शिष्य में संचरित होती है।

---

८३. सद्गुरु मन्त्रदीक्षा के भीतर से शिष्य को स्वकीय साधनालब्ध परमगुह्यतत्त्व दान करते हैं। उसे व्यावहारिक बुद्धि के मापदण्ड से सोचने या जाँचने की ओर अग्रसर न होओ। होओ तो जैसे भटा बेचनेवाला हीरे की कीमत नौ

सेर से ज्यादा एक भी देना नहीं चाहता था, वैसे ही होगा। यह सब तर्कविचार की वस्तु नहीं है, गुह्य (mystic) व्यापार है, सहज ही समझ में नहीं आता। गुरु के उपदेश में विश्वास करके साधन-भजन करने पर बाद में हृदयंगम होता है, पर्दे के बाद पर्दा खुल जाता है।

---

८४. प्रतिदिन अन्ततः कुछ समय के लिए तो भी बैठकर जप-ध्यान किया करो। समयाभाव?——कि आन्तरिकता का अभाव? सब काम करने के लिए समय मिलता है या समय निकाल लेते हो, वह चाहे हजार तुच्छ काम ही क्यों न हो, और एक आध घण्टा जप-ध्यान के लिए समय नहीं मिलता! प्यास के लिए जैसे पानी का, भूख के लिए जैसे भोजन का, बचने के लिए जैसे वायु का प्रयोजन है, वैसे ही पारमार्थिक वस्तुलाभ के लिए जप-ध्यान, प्रार्थना-क्रियादि की विशेष आवश्यकता है। उसके लिए अभावबोध जगाना होगा, प्रतिदिन की क्रियाओं के अभ्यास से वह क्रमशः उपस्थित होगा, उससे शक्तिसंचय होगा।

---

८५. कितने ही दीक्षा के बाद गुरु को कहते हैं, "हम तो कुछ भी नहीं कर सकते, भविष्य में आप पर सब भार डालकर हम तो मुक्त हैं," इसका मतलब धोखा देना, कुछ न करने का अभिप्राय। धर्मलाभ क्या इतनी सहज और सस्ती चीज है? "जैसा भाव वैसा लाभ," और मुँह से कह देने से ही क्या भार समर्पित करना हो गया? वह बहुत ही

साधनासापेक्ष है। अपने अहं की बलि देकर पूर्णतः आत्म-समर्पण करना पड़ता है। दो पैसे के रोजगार के लिए रातदिन मारे मारे फिर सकते हो, आहार-निद्रा परित्याग करके खटपट कर सकते हो और जब ज्ञानभक्ति-प्राप्ति की बारी आय तो "हमसे तो कुछ नहीं बनता।" वाह! खूब मजे की बात है। दिन-ब-दिन, मास-दर-मास, साल-दर-साल, काया-मन-वाणी से यथासाध्य उपासना करने पर वस्तुप्राप्ति होती है। "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"—मुक्ति का अन्य मार्ग नहीं।

---

८६. कोई किसी के पापों का भार नहीं ले सकता, गुरु भी नहीं। मन्त्रदीक्षा देकर गुरु ने तुम्हारे समस्त पापों का भार अपने सिर पर ले लिया ऐसा सोचना महाभ्रम है। यह तो एक भगवान के अवतार ही कर सकते हैं और करते हैं; कारण वे होते हैं अहेतुक-करुणासिन्धु, पापी-तापियों के उद्धार के लिए ही वे अवतीर्ण होते हैं। भगवान को कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकता; फिर भी उनके देहधारी होने के नाते वे (पाप) उनको रोग रूप से भोग कराते हैं। किये हुए पापों का प्राय-श्चित्त केवल अन्तःकरण से तीव्र पश्चात्ताप द्वारा और पाप-कर्मों को सर्वथा त्यागकर साधुजीवन व्यतीत करने से ही सिद्ध होता है। ज्ञानाग्नि ही सब पापों को भस्म करती है।

---

८७. धर्म को सभी लोग लावारिस माल समझते हैं। शास्त्राध्ययन न करके, साधन-भजन कुछ भी न करके, धार्मिक विषयों पर अपना मत या विधान देने के लिए सभी

अग्रसर होते हैं, अपने को expert या सर्वज्ञ ही समझते हैं। साधारण-सी एक अपराविद्या आयत्त करने के लिए कितने वर्षों तक विद्वान् शिक्षक के पास शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती है और पराविद्या-प्राप्ति के लिए, धर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म-तत्त्व को जीवन में प्रतिफलित करने के लिए बहुप्रयाससाध्य शिक्षा-दीक्षा की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती, ऐसा सोचना पागलपन मात्र है।

---

८८. दीक्षा लेने के कुछ समय बाद ही बहुतसे व्यक्ति कहते हैं, "मन स्थिर क्यों नहीं होता, ध्यान क्यों नहीं अच्छा जमता? जिससे मन स्थिर हो जाय ऐसा कुछ कर दीजिये।" मन का स्थिर होना, ध्यान जमना क्या मामुली-सी बात है? मन जन्मजन्मान्तरों की विषयासक्ति के संस्कारसमूहों के वश में होने से स्वभावतः ही बहिर्मुखी रहता है, लगातार विषयभोग ढूंढ़ता फिरता है और उन्हीं में रस पाता है। ऐसे चंचल मन को स्थिर करने के लिए अभ्यास और वैराग्य को छोड़कर कोई सुगम पथ (short cut) नहीं। दिन-ब-दिन, माह-दर-माह, साल-दर-साल, धैर्य और निष्ठापूर्वक, गुरुनिर्दिष्ट प्रणाली से जपध्यानादि का अभ्यास करते रहना होगा, और साथ ही साथ विषयों में अनासक्ति हो ऐसी चेष्टा करनी पड़ेगी। विषयों के प्रति आकर्षण जितना कम होगा और इष्ट को जितना ही अधिक प्यार करोगे और उन्हें बिलकुल अपना, अपनी आत्मा से भी अधिक प्रिय समझने लगोगे, तो देखोगे, कि मन उतना ही अपने आप शान्त और

स्थिर होते जा रहा है। तब ध्यान भी जमेगा और आनन्द तथा शान्ति भी मिलेगी। थोड़ा-बहुत ध्यान-जप करके आनन्द न मिलने पर, उसे छोड़ देना उचित नही। शीघ्र फलप्राप्ति के लिए व्यग्र न होकर श्रीरामकृष्ण-कथित "खानदानी किसान" के समान बराबर लगे रहना पड़ेगा। दस साल अकाल पड़ने पर भी वह खेती छोड़ता नहीं।

---

८९. देवदर्शन या साधुदर्शन के लिए जाते समय खाली हाथ नहीं आना चाहिए। कम से कम एक दो पैसे के फल या मिठाई या कोई भी चीज साथ में लानी चाहिए। कम से कम दो फूल तो जरूर ही।

---

९०. सांसारिक ज्वाला-यन्त्रणा, अन्याय-अत्याचार, मनोमालिन्य, झगड़ा, अशान्ति आदि की बातें लगातार सोच-सोचकर, और हायतोबा करते हुए मन को अवसन्न न करो। उसका कोई फल नहीं होता, उलटे इन सब की मन ही मन या दूसरों के साथ जितनी ही आलोचना करोगे, वे उतने ही बढ़ेंगे, दसगुने हो जायँगे और जीवन दुःसह मालूम पड़ने लगेगा। जितना हो सके सब सहन करने की चेष्टा करो। बात की बात में, बातें बढ़ जाती हैं। इसीलिए किसी के कुछ कहने पर उसकी उपेक्षा करके चुप रहना ही श्रेष्ठ है। गूंगे-बहरे का कोई वैरी ही नहीं। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"जो सहे सो रहे, जो न सहे सो नष्ट होवे।" मधुर वार्तालाप से, मिष्ट व्यवहार से, सेवा और प्रेम से सभी वशीभूत हो जाते हैं,

आज नहीं, दो दिन के बाद। मन में दृढ़ संकल्प पैदा करो, बार बार विफल होने पर भी सुधरने की चेष्टा करो, भगवान से अपना समस्त दुःख ज्ञापन करो, रोओ और अन्तःकरण से प्रार्थना करो—तुम्हारी सब दोष-त्रुटियों को दूर कर देने के लिए। दूसरे को सुधारने जाना व्यर्थ है, पागलपन है, निज को ही सुधारना है। किसी पर भी द्वेषभाव न रखो। आप भला, तो जग भला। यदि यह न कर सको तो तुम्हारा ही दोष है और उसका फल भी खुद को ही भोगना पड़ेगा। तुम्हें उससे कोई भी छुड़ा नहीं सकेगा।

---

९१. विषयों की ओर या किसी के भी प्रति आसक्ति या ममत्वबुद्धि ही समस्त संसार-बन्धन का मूल कारण है। ज्ञानी लोग किसी को भी व्यक्तिगत रूप से प्रेम नहीं करते और न वे दूसरों को व्यक्तिगत रूप से अपने को प्रेम करना या अपने में आसक्त होने देना चाहते। स्वयं मुक्त हैं इसीलिए वे किसी को भी निज के प्रति मायामोह में नहीं फँसने देना चाहते। वे अपनी आत्मा को, भगवान को सभी में देखते हैं, अतः समस्त जीवों पर उनका समान प्यार और स्नेह होता है। उनके प्रेम में देह और इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध नहीं, कामगन्ध नहीं। ज्ञानी ही प्रकृत प्रेमी होता है और प्रकृत प्रेमी ही ज्ञानी।

---

९२. त्याग, प्रेम और पवित्रता भगवत्प्राप्ति के उपाय हैं। इनका परस्पर अंगांगि-सम्बन्ध है, एक होने पर, दूसरे

दो भी अवश्य होते हैं। सब विषयवासनाओं से वितृष्णा, सब जीवों के प्रति प्रेम और आत्मीयता का बोध, और अन्तर्बहिः मनसा-वाचा-कर्मणा पवित्र हुए बिना, प्रेमस्वरूप पवित्रतास्वरूप परमेश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। अन्तःकरण में पवित्र विचारधारा अविरत बहती रहे, इसका प्रयत्न करने से कुचिन्ता, कुप्रवृत्ति सब दूर भाग जाती है; चरित्र और मन ऐसे ढल जाते हैं कि उनके द्वारा कोई कुकर्म, कुचिन्ता, द्वेष, हिंसा आदि सम्भव नहीं होते। ऐसे व्यक्तियों के भीतर से एक ऐसे तेज और शक्ति का प्रकाश होता है कि उनके सम्पर्क में आनेवाला असाधु साधु हो जाता है, नास्तिक भी भगवद्भक्त हो जाता है और संसार के तापों से परितप्त पुरुष शान्ति का अधिकारी हो जाता है।

---

९३. पाप और पारा जैसे छिपाये छिपते नहीं, वैसे ही प्रेम और पवित्रता भी छिपे नहीं रहते। आग को क्या कपड़े से ढाँककर रख सकते हैं? जिसका अहं-मम कुछ बचा ही नहीं, अपना-पराया कुछ नहीं वह अपने को लोगों की निगाह से चाहे जितना बचाकर रखे, उसके भगत्वप्रेम की बाढ़ में सारा संसार डूब जाता है। वही धन्य है जो ऐसे ब्रह्मज्ञ पुरुष का आश्रय और उनकी कृपा प्राप्त करता है।

---

९४. यौवन धर्मसाधन के लिए सर्वोत्तम समय है। उस समय यदि कोई साधनासंलग्न होकर यथेष्ट आध्यात्मिक शक्तिसंचय कर ले तो फिर शेष जीवन निरापद होकर सुख-

और शान्ति से बिताया जा सकता है, चाहे जितनी विपत्ति और दुःख आये, फिर वे उसे कदापि विचलित नहीं कर सकते। इस समय यदि जीवनगठन नहीं हो सका तो बाद में फिर नहीं होता। एक पल भी आलस्य या फजूल के काम में नष्ट न करो। शरीर अच्छा नहीं, समय नहीं मिलता—ऐसे अनेक बहाने आ जुटते हैं। ये सब व्यर्थ की बातें हैं। आहार-विहार, निद्रा और सब कामकाज यदि संयत और नियमितता से किये जायँ, तो शरीर-मन सतेज और प्रफुल्ल रहते हैं, उनसे कितना ही अधिक काम लिया जा सकता है, काम भी खूब अच्छा होता है और समय भी काफी मिलता है।

---

९५. चाहे जब, चाहे जहाँ, जो कुछ भी मिल जाय, खा लेने से, जब जो करना है उसे तब ही न करने से और कामक्रोधादि शत्रुओं को आश्रय देने से, मन में भी स्फूर्ति नहीं रहती और शरीर में शक्ति भी नहीं पायी जाती। उच्छृंखलता से चलने में शरीर-मन पर इतना अयथा बोझ पड़ता है, कि वे अन्त में टूट पड़ते हैं, फिर शारीरिक कार्य या व्यायाम करने के लिए भी नाराज़ होते हैं। मनमानी चीजें गले तक ठूंस-ठूँसकर खा लेने से उसे पचाने में ही शरीर की आधी शक्ति क्षय हो जाती है। ८-१० घण्टे सोकर भी इसकी क्षतिपूर्ति नहीं होती, बकाया शक्ति भी व्यर्थ के काम और गपोड़ों में नष्ट हो जाती है, इसीलिए ध्यान-जप करने की शक्ति भी नहीं रहती, इच्छा भी नहीं होती। करने बैठते ही, जमुहाई आती है और तन्द्रा सवार

हो जाती है। ऐसी हालत में उससे काम ही कौनसा होगा? धर्म-कर्म की बात तो जाने दो, कामकाजी आदमी भी तो वह नहीं हो सकता। इस तरह इतना दुर्लभ मानवजीवन वृथा ही नष्ट हो जाता है, यह क्या कम अफसोस की बात है! जिससे देवत्व लाभ कर सकते हैं, उससे यदि मनुष्यत्व भी प्राप्त न हो, तो फिर पशुत्व से फर्क ही क्या रहा?

---

९६. अपरिपक्व मनवाले प्रवर्तक साधक को अपनी साधना की इमारत खड़ी करने में सदा सजग और व्यस्त रहना पड़ता है, जिससे मोहवश, अनजान में मन कहीं किसी काम्य वस्तु या व्यक्ति में आकृष्ट होकर उसे बन्धन में न डाल दे। और यह भी समझ रखने की बात है कि साधन-भजन शुरू करने के समय को ही प्रवर्तक अवस्था कहते हैं, ऐसा नहीं है। दस बारह वर्ष जप-ध्यान कर लेने से ही कोई उच्च अवस्था का साधक नहीं हो जाता। व्यक्तिविशेष की प्रचेष्टा और आग्रहभेद से यह अवस्था कितने ही साल चल सकती है — यहाँ तक कि जीवनभर — जब तक कुछ साक्षात् अनुभूति न हो तब तक। यह अनुभूति ही धर्म है। उसके पहले का समस्त क्रियाकाण्ड, अनुष्ठानादि, धर्मराज्य में प्रविष्ट होने के लिए, तैयारी और सामग्री का एकत्रीकरण मात्र है।

---

९७. देखने में आता है, जो शुरू शुरू में साधन-भजन, ध्यान-जप आदि करना प्रारम्भ करते हैं, जितना ही मन

को इष्ट में समाहित या एकाग्र करने की चेष्टा करते हैं, उतना ही मन टेढ़ा चलता है, दुनियाभर के गन्दे, असम्बद्ध विषयों में भटकना शुरू कर देता है। यहाँ तक कि मन में आता है कि ऐसी बला तो पहले कभी नहीं थी, तब तो जो सोचता था, मन को ठीक स्थिर करके सोच सकता था, अब ऐसा क्यों हो गया? इसका मतलब यह है कि जिन सब की ओर मन की स्वाभाविक प्रवृत्ति थी, उन बाह्य विषयों में ही मैं उसे लगाता था, अतः उसके साथ कोई द्वन्द्व नहीं था। ज्योंही सदसत् विचार करके, उसे असार बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुखी करने और वश में लाने की चेष्टा की कि वह विद्रोही हो उठा। नदी को बाँधने का प्रयत्न करने पर उसका वेग सौगुना बढ़ जाता है। पर उसके उसी वेग को, उसी शक्ति को यदि अभीष्ट कार्य में लगाया जाय तो हजारगुनी फलप्राप्ति होती है।

---

९८. यत्न और चेष्टा से सभी काम सिद्ध होते हैं। असफल होने पर पुनः पुनः प्रयत्न करो। यदि प्रयत्न करने से सिद्धिलाभ न हो तो समझना कि जिस तरह का प्रयत्न करना उचित था उस तरह से नहीं हुआ। चेष्टा करने से सभी बातें सरल अनायास साध्य होने लगेंगी, क्रमशः यह अभ्यास में परिणत हो स्वभाव बन जायगा।

---

९९. ईश्वर ने दरअसल कोई अभाव नहीं रखा है, मनुष्य का अभाव केवल उसके मन में है। सुख-दुःख मन में

हैं, बाहर नहीं। जैसा भाव, वैसा लाभ।

---

१००. स्वाधीनता है परम सुख; पराधीनता महादु:ख। ईश्वर का दासत्व यथार्थ स्वाधीनता है। बिना षड्रिपुओं की दासता का परित्याग किये ईश्वर का दास होना सम्भव नहीं।

---

१०१. मनुष्य का अपना बन्धन अपने ही हाथ में है, अपनी मुक्ति भी अपने ही हाथ में है। हम लोग जान-बूझकर गड्ढे और बन्धन में पड़ते हैं और हजार भोग भोगते हैं।

---

१०२. तन्त्र में कहा है:—

"गुरौ मनुष्यबुद्धिस्तु मन्त्रे चाक्षरभावनम्।
प्रतिमासु शिलाज्ञानं कुर्वाणो नरकं व्रजेत्॥"

—गुरु में मनुष्यबुद्धि करने से, इष्ट मन्त्र को अक्षर मात्र समझने से और देवदेवी की प्रतिमा को मिट्टी या पत्थर समझने से मनुष्य नरकगामी होता है। अर्थात् ऐसी भ्रमात्मक और विपरीत बुद्धि के कारण और श्रद्धा-विश्वास-हीनता के दोष से आध्यात्मिक उन्नति तो होती ही नहीं, उलटे मनुष्य की अधोगति होती है।

---

१०३. जो लोग सब समय, सब काम करते हुए भी ईश्वर का स्मरण, मनन तथा नामजप करते हैं, उन्हें ही एकमात्र सार और सहारा समझते हैं, दु:ख-विपत्ति के

समय भी उन्हें ईश्वर का विस्मरण नहीं होता। मृत्युकाल में भी ईश्वरीय चिन्तन से उन्हें अपने रोग-यन्त्रणादि विस्मृत हो जायँगे, संसार और धन-जन की आसक्ति दूर हो जायगी, उन्हीं के भाव में उनका चित्त तद्गत हो जायगा। जिनका यह अन्तिम जन्म है, उन्हीं का ऐसा होता है। उनके चिन्तन और सान्निध्य के निरन्तर अभ्यास से यह स्वभावसिद्ध हो जाता है।

---

१०४. नाम नामी एक, यह धारणा मन में जितनी दृढ़ कर पाओगे उतना ही उनका आविर्भाव, उनका सान्निध्य (presence) अपने प्राणों में अनुभव करोगे।

---

१०५. जहाँ किसी का कोई नहीं, यहाँ तक कि हम भी अपने नहीं, उसे ही संसार कहते हैं।

---

१०६. जो स्वयं अपना मित्र है, वह संसार का मित्र है और समस्त संसार उसका मित्र। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं,—"आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।" शुद्ध मन ही मनुष्य का सच्चा हितकारी (मुक्ति का कारण) है एवं विषयासक्त मन ही मनुष्य का परम शत्रु (बन्धन का कारण) है।

---

१०७. अनित्य संसार में जैसा संयोग है, वैसा ही वियोग भी है, जहाँ सम्पद् है वहीं विपद् भी है, जहाँ सुख

है वहीं दुःख भी है, जहाँ अर्थ है वहीं अनर्थ है, जहाँ भोग है वहीं रोग भी है, जहाँ विषय है वहीं विवाद भी है। यह सब देखकर और समझकर भी लोग कितने आनन्द से उसे हृदय से चिपटाये हैं। विषयोपभोग में जो यत्किंचित् सुखाभास है वही मनुष्य का सर्वनाश कर डालता है। लोग करोड़ों दुःखों के बाद नाममात्र का सुख पाकर ही समस्त दुःखों को भूल जाते हैं।

---

१०८. किसी भी विषय का क्या परिणाम होगा, यह सोचकर काम करने से, दुःखों से छुट्टी मिल सकती है। और जो ठोकरें खा-खाकर, बार बार ठगा जाकर भी नहीं सीखता उसका दुःख कौन निवारण कर सकता है? जो जागता हुआ सो रहा हो, उसे कौन जगा सकता है? पुनः संसारागमन न हो, बार बार आकर पुनः अनन्त यन्त्रणा न भोगनी पड़े, उसी का उपाय करना जीवन की सार्थकता है।

---

१०९. दैव या अदृष्ट पर निर्भर होकर बैठे रहने से कुछ भी काम नहीं करते बनता और कभी भी कार्यसिद्धि नहीं होती। इससे मनुष्य उलटा हीनवीर्य और तामसिक हो उठता है और वह अधोगति को प्राप्त करता है। लोग खुद की कमी और गलतियों से असफल होते हैं और दोष मढ़ते हैं दैव या अदृष्ट या ग्रह के फेरे के सिर पर। खुद की असावधानी से ठोकर खाकर या पैर फिसलकर गिर पड़ने पर दोष दिया जाता है जमीन को! सभी काम प्रायः स्वयं

की साधना पर निर्भर है। दैव नाम की यदि कोई चीज हो, जिसे हम समझते हैं कि वह हमारी उद्देश्यप्राप्ति में बाधक है, तो पुरुषकार (प्रयत्न) के द्वारा अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को जगाकर हमें उस पर विजय प्राप्त करनी होगी। तभी तो तुम मनुष्य हो। ऐसा होने पर, देखोगे कि दैव भी तुम्हारे अनुकूल होने लगा है। दैव ही यदि एकमात्र बलवान हो तो, फिर धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, परमात्मशक्ति नाम की कोई चीज ही न रहे। क्योंकि जब सब दैव ही करता है तो फिर मैं उनके लिए उत्तरदायी ही नहीं, मैं तो लाचार होकर परिचालित होता हूँ--यह भाव रहते हुए मनुष्य क्रमशः जड़त्व को प्राप्त होता है, कभी भी उठ नहीं सकता, आशा तक नहीं कर सकता कि वह कभी भी मुक्त होगा। अतः वह स्वयं को दुर्बल सोचते हुए अधोगति प्राप्त करता है और पापपंक में अधिकाधिक डूबता जाता है।

---

११०. मैं अवश होकर सब करता हूँ। मैं यन्त्र हूँ, वे यन्त्री हैं, ऐसा कहना उसी को शोभा देता है जो ईश्वरेच्छा के साथ स्वयं की इच्छा को एक कर सका है। ऐसा एक परमभक्त ही कर सकता है, जो परमेश्वर को छोड़कर और कुछ नहीं जानता। उसका पैर कभी बेताल नहीं गिरता, न उसके द्वारा कोई बुरा काम होता है। उसके हृदय में अदम्य शक्ति और अनुप्रेरणा भरी रहती है, जिससे वह कभी निराश नहीं होता, सुख में या दुःख में कभी भी विचलित नहीं होता। उसका "नाहं नाहं, तू ही तू ही" भाव सदा

जागृत रहता है। उसके निकट लाभालाभ, जयाजय, मानापमान सभी समान हो जाते हैं।

---

१११. जो कार्य जिस समय करने का हो उसमें उसी समय दत्तचित्त होकर, समस्त मन:प्राणपूर्वक लग जाओ, चाहे जितने बाधा-विघ्न आयँ, उनकी ओर लक्ष्य न करो। ऐसा करने पर देखोगे कि वे बाधा-विघ्न ही प्रकारान्तर से तुम्हारे सहायक बन गये। सब समय क्या मन के अनुकूल आबहवा मिलती है? सब कामों को निपटाकर, गृहस्थी की एक प्रकार की सुव्यवस्था करके तब निश्चिन्त मन से ईश्वराराधन में लगूँगा, ऐसा जो सोचता है उसकी अवस्था उसी अजाने के समान है जो समुद्रस्नान के लिए जाकर वहाँ की भयानक लहरों को देख और डरकर सोचता है कि लहरें जब कुछ शान्त हो जायँगी तब पानी में उतरा जायगा। उसके आजीवन बैठे रहने पर भी लहरें शान्त न होंगी और उसका स्नान भी नहीं होगा। समुद्र में लहरें सदा ही रहेंगी। साहस से कूदकर और लहरों से जूझकर ही स्नान कर लेना पड़ता है। इस संसार-समुद्र में भी, ठीक उसी तरह, लहरों के साथ जूझते रहने पर भी, भगवान का नाम लेना और साधन-भजन, आराधना आदि करना होगा। सुयोग-सुविधा की मार्गप्रतीक्षा करते हुए, हाथपैर खींचकर बैठे रहने से किसी समय भी आशा पूर्ण न होगी।

---

११२. कितने ही लोग काम-काज प्राप्त करने में

असमर्थ होकर, संसार में नित्य के अभाव, कठिनाई और अशान्ति से त्रस्त होकर, पद पद पर सब कामों में विफल-मनोरथ होकर, संसार के दायित्व को टालने के लिए, मठ में संन्यासी होने के लिए दुराग्रह करते हैं। आजकल संन्यासी होना मानो एक शौक हो उठा है! ठीक ठीक वैराग्य होना, संन्यासी होना क्या मामूली बात है? संसार में रहते हुए ही साधन-भजन करके विषयों के प्रति अनासक्ति, निर्लिप्तता और निःस्वार्थता के भाव का कुछ अभ्यास करके योग्यता लाभ करनी पड़ती है, जमीन को तैयार कर लेना पड़ता है। ऐसा न करने पर नवानुराग का उच्छ्वास ताड़पत्र की अग्नि के समान कुछ दिन में ही बुझ जाता है, गायब हो जाता है और फिर आलस्यपूर्ण दिन कटने लगते हैं और खुद की सुख-सुविधा, और मान-यश की ओर मन का झुकाव हो जाता है--तब जपध्यान करना उसके लिए बेगारी श्रम के समान हो जाता है--एक आध घण्टा बैठकर ही वह सब खतम कर लेता है। आज शरीर अच्छा नहीं तो कल काम के मारे फुरसत नहीं मिली, इसी तरह एक न एक बहाना जुटता रहता है। प्रायः देखा जाता है, संसार-त्याग करके और बाधाविघ्नों से त्राण पाकर, स्वच्छन्द रहकर वह सोचता है--जो चाहता था वह तो मिल गया, अब व्यस्त होने की जरूरत नहीं, धीरे--सुस्ती से भगवान का नाम लेने से भी चलेगा। अतः वह आरम्भिक तेज और दृढ़ता फिर नहीं रहती। मन क्रमशः निम्नगामी होता है।

---

११३. बाहर से लोग सोचते हैं, मठ के साधु कैसे मजे में हैं--गंगा-किनारे ऐसा सुन्दर स्थान, रहने के कमरे, मन्दिर, पैसे की कोई कमी नहीं, कितना अच्छा खाते पीते हैं, कोई चिन्ता-फिकर नहीं, समयानुसार थोड़ा बहुत ठाकुर का काम किया और बाकी समय मनमाफिक इच्छानुकूल थोड़ा पढ़ा लिखा और जप-ध्यान कर लिया ! कितना सुख-स्वाधीनता का जीवन है ? उन्हें विदित नहीं कि मठ के साधुओं को दिनरात कितना काम करना पड़ता है, कितने कठोर नियम और कानूनों के भीतर रहना पड़ता है, कितने प्रकार के कठिन सेवाकार्यों को करना पड़ता है, शरीर-प्राण को तुच्छ समझकर विपत्ति से शोकातुर लोगों के उद्धार के निमित्त कितने विपज्जनक कामों का मुकाबला करना पड़ता है--निज की भक्ति-मुक्ति तक को तुच्छ मानकर, शिवज्ञान से जीवसेवा के निमित्त अपने जीवन को उत्सर्ग कर देना पड़ता है। जो संघ के आदेश का पालन नहीं करता, या कुछ भी बहानेबाजी करके, धोखा देकर रहना चाहता है या वहाँ से हट जाता है, मनमाना आचरण करता है, वह रसातल को चला जाता है, उसकी सारी उन्नति का मार्ग बन्द हो जाता है और क्रमशः अधोगति ही होती है।

---

११४. आदर्शभ्रष्ट साधु की अपेक्षा उत्साही और श्रद्धा-सम्पन्न संसारी भक्त ज्यादा साधन-भजन न कर सकने पर भी, हजारगुना श्रेष्ठ है, क्योंकि वह अपने क्षुद्र सामर्थ्य के

अनुसार उन्नति के पथ पर आगे बढ़ने की यथासाध्य चेष्टा कर रहा है, असहनीय बन्धनों से मुक्त होने के लिए भगवान के निकट व्याकुल अन्तःकरण से प्रार्थना कर रहा है। उसके अन्तर में त्याग की तीव्र आकांक्षा जागृत होती है, वह संसार के विविध कर्तव्यों के दायित्व और बाधाविघ्नों से सदा जूझता रहता है; उसके प्राण छटपटाते हैं, व्याकुल हो उठते हैं, सारे बन्धन तोड़कर संसार-त्याग करके भगवत्प्राप्ति करने की इच्छा प्रबल हो जाती है। इससे शक्तिसंचय होता है। भगवान उसके सहायक होते हैं। वे अन्तर्यामी हैं, उसकी अवस्था को समझते हैं। उसके मार्ग के रोड़ों को क्रमशः हटा देते हैं। असल बात इतनी ही है कि अन्तर से त्याग न होने पर भक्ति, मुक्ति, ज्ञान कुछ भी नहीं मिलता।

---

११५. कितने ही सोचते हैं, सेवा, कर्म यह सब करने से क्या होगा ? उसकी अपेक्षा तो उचित यह है कि रातदिन साधन-भजन करके पहले ईश्वर को प्राप्त किया जाय। पर ऐसा भी क्या होता है ? कुछ दिन कर देखने से मालूम हो जायगा कि कार्यतः यह सम्भव नहीं है। कर्म, पराये हित के लिए कर्म न करो तो चित्तशुद्धि कैसे होगी ? मन, शुद्ध हुए बिना क्या स्थिर और शान्त होता है ? ऐसा न होने पर ध्यान क्या सहज ही जमता है ? कर्म करते समय ही अपनी ठीक ठीक परीक्षा होती है, हममें कितनी शक्ति है, इसका ज्ञान होता है। मन में कितना कचरा भरा है, विषयवासनाओं की ओर कितना आकर्षण और अनुराग है,

कितनी स्वार्थपरता है, सहनशीलता कैसी है, ये क्रमशः बढ़ रहे हैं कि कम हो रहे हैं,--यह सब जानने का एक मात्र उपाय है कर्म। और कर्म द्वारा ही इनका प्रतिकार सहज रूप से होता है। सदसद्विचार, अन्तर्दृष्टि और आत्मपरीक्षा का भाव रहने पर मन क्रमशः निर्मल और निष्काम हो जाता है, अहंभाव नष्ट हो जाता है और हृदय में प्रेम आविर्भूत होता है। तब फिर कर्म में कर्मज्ञान नहीं रहता, कर्म बन्धन का कारण न होकर मुक्ति का कारण बन जाता है। अर्थात् तब कर्म ही पूजा का रूप धारण कर लेता है, कर्म और ईश्वर की उपासना में -- नारायण-ज्ञान से जीवसेवा और भक्ति में -- कोई भेदज्ञान नहीं रहता। यही हुई ठीक भक्ति। और उसे प्राप्त करने का स्वाभाविक उपाय है कर्मयोग।

---

११६. फिर, पराभक्ति भी ज्ञानलाभ हुए बिना नहीं होती। अर्थात् मेरे इष्ट, परमेश्वर प्राणिमात्र, जीवमात्र में उपस्थित हैं, जीवजगत् उनसे कोई भिन्न सत्ता नहीं है, इसकी उपलब्धि करना अर्थात् परमात्मा के साथ जीवजगत् और अन्तरात्मा का एकात्मबोध ही पराभक्ति और परम-ज्ञान है। फिर भी अधिकारी-भेद से इन दोनों के पथ और साधन भिन्न हैं। ज्ञान के अधिकारी संसार में विरले होते हैं, पथ भी दुःसाध्य है। इसीलिए ज्ञानमिश्रित भक्ति ही अच्छी।

---

११७. ज्ञानमार्ग में शुरू से ही सब अस्वीकार करना

पड़ता है,--नेति नेति--मैं यह नहीं, वह नहीं; जो कुछ देखता हूँ, सुनता हूँ, अनुभव करता हूँ, वह मैं कुछ भी नहीं हूँ। मैं देह नहीं, मन नहीं, इन्द्रिय नहीं, मुझे रोग-शोक-सुख-दुःख, शीतोष्ण-ज्ञान, कुछ नहीं। समस्त जगत्प्रपंच झूठा है, अर्थात् त्रिकाल में भी--भूत, भविष्यत् और वर्तमान में --इसका अस्तित्व नहीं। मैं हूँ अखण्ड सच्चिदानन्द-स्वरूप पूर्णब्रह्म परमात्मा, एकमेवाद्वितीयम्। देहादि उपाधिविशिष्ट जीव के पक्ष में इस प्रकार की साधना क्या कभी सम्भव है ? काँटा चुभ गया, आग में जल गया हूँ फिर भी किसी यन्त्रणा का ज्ञान नहीं ! यह है विषयसम्पर्कवर्जित त्यागी साधक की चरम अवस्था, जो सब साधना और सिद्धि के उपरान्त निर्विकल्प समाधि से ही प्राप्त होती है। श्रीरामकृष्ण कहते थे, उस अवस्था में इक्कीस दिन से अधिक शरीर नहीं टिकता।

---

११८. भक्तिमार्ग इसीलिए सब के लिए सहजसाध्य है कि उसमें इन्द्रिय-प्रवृत्ति और वासनाओं को नष्ट नहीं करना पड़ता, केवल उनका झुकाव बदल देना पड़ता है, अर्थात् उनकी शक्ति, गति और झुकाव को अन्य दिशा में धीर भाव से परिचालित करना पड़ता है, काम-क्रोध-लोभ-मोहादि, जो असीम क्लेश और बन्धन के कारण हैं, जिनसे छुटकारा न मिलने पर, बार बार जन्म-मृत्यु भोग होता है, दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति अनन्त काल में भी नहीं होती, उनमें विवेक और प्रज्ञाबल से आमूल दोष-दर्शन करके और वीतराग होकर, मन को इन्द्रियग्राह्य विषयों से हटाकर

भगवदभिमुखी कर देने से, वे जो केवल निवीर्य ही होते हों सो नहीं, वरन् उनकी वे ही अदम्य अधोगामी वृत्तियाँ ऊर्ध्वगामी होकर सहस्रगुना अधिक शक्तिशाली होती हैं और जीव को अक्षय परमानन्दरस से परिप्लावित कर देती हैं। यदि सुख की ही कामना हो तो प्रेममय भगवान के संगसुख-लाभ के लिए ही लालायित होओ, लोभ ही करना है तो परम अक्षय धन के अधिकारी होने की चेष्टा करो, यदि मोहग्रस्त ही होना हो तो उस चिरसुन्दर के प्रेम में मस्त रहो, क्रोध करना हो तो उन्हीं पर करो--क्यों दर्शन नहीं देते ? इसी तरह मद और मात्सर्य के सम्बन्ध में भी, जो तुम्हें तुच्छ विषयों में आबद्ध रखते हैं।

---

११९. पहिले पहिले, कम भी चाहिए और साधन-भजन भी। दोनों करना होगा। मन में यह दृढ़ धारणा रखो कि दोनों का ही उद्देश्य है ईश्वर-प्राप्ति, आदर्श ठीक न रहने से अनेक विपरीत और अशुभ भाव आ जुटते हैं और कर्म में ही आदमी अपने को भूल जाता है, सभी बातों में ऐसा ही होता है। इसीलिए सदा सजग रहने की जरूरत है, सदसद् विचार करने की जरूरत है, प्रार्थनाशील बने रहने की जरूरत है, ऐसा होने पर ईश्वर की कृपा से ऐसी एक अवस्था आयगी, जब साधन-भजन और कर्म में कोई भेदज्ञान नहीं रहेगा, तब सब ही साधनभजन हो उठेगा। फिर भी कर्मियों को बीच बीच में कुछ दिन के लिए वैराग्यभाव का अवलम्बन करके तीर्थभ्रमण, एकान्त में साधनभजन और

तपस्या करने की आवश्यकता है। इससे शरीर-मन सतेज और प्रफुल्ल होता है, आत्मप्रत्यय और ईश्वर पर निर्भरता उत्पन्न होती है, शक्तिसंचय और पूर्ण भाव से चरित्र-गठन होता है।

---

१२०. इष्ट की पूजा दीक्षित-मात्र सभी कर सकते हैं। दीक्षा लेने से देह शुद्ध हो जाती है। उन पर विश्वास रखकर, उन्हें अपना आत्मीय समझते हुए प्रेमपूर्वक पूजा करनी चाहिए। पूजा में स्थिर होने पर, मन सहज ही एकाग्र हो जाता है, ध्यान भी जमता है और आनन्दोपलब्धि होती है। इच्छा के अनुसार उनको फूल, चन्दन और माला से सजाओ। प्रेम की पूजा में कोई विधि-निषेध नहीं, तन्त्र मन्त्र मुद्रा यन्त्र किसी की जरूरत नहीं। केवल श्रद्धा विश्वास और प्रेम चाहिए। पूजा के समय अनुभव करने की चेष्टा करो कि सत्य सत्य ही तुम्हारे इष्ट तुम्हारी पुष्पांजलि, श्रद्धापूर्ण अर्घ्य और निवेदनद्रव्यादि प्रेमपूर्वक ग्रहण कर रहे हैं, वह चाहे कितनी ही मामूली वस्तु क्यों न हो। प्रेममिश्रित भोजन उनके पास बड़ा ही मधुर है। उन्होंने दुर्योधन के निमन्त्रण को लौटाकर, विदुर के शाकान्न बड़े सन्तोष से खाये थे। जो कुछ भी खुद खाओ, सब मन ही मन उन्हें निवेदित करके खाओ, समझो वह सब उनकी ही दया का दान है -- प्रसाद। इससे द्रव्यदोष कट जायगा।

---

१२१. सेवा, स्वाध्याय, साधन, सत्य और संयम --

यह पंच 'स'कार उपासना सिद्धिलाभ का श्रेष्ठ उपाय है। सदा प्रयत्नपूर्वक जितना हो सके इनका अनुष्ठान करते रहो।

---

१२२. पूजा, सेवा, जप, ध्यान आदि नित्यकर्म निष्ठापूर्वक अनुष्ठान करने से, पूर्व और इस जन्म के अशुभ संस्कार नष्ट हो जाते हैं और शुभ संस्कारों की उत्पत्ति और वृद्धि होती है, परिणामतः साधनभजन भी क्रमशः सहजसाध्य हो जाता है और चित्त शुद्ध और मन स्थिर होकर भगवद्भाव में तल्लीन हो जाता है और तत्त्वज्ञान-लाभ होता है।

---

१२३. यदि पूर्वजन्म के कुछ सत्संस्कार या सुकृति न हों तो धर्म और ईश्वर में विश्वास और मति-गति नहीं होती। यदि किसी विशेष पुण्यफल के कारण हुई भी तो इतने बाधाविघ्न आ जुटते हैं कि सब को ठेल-ढकेलकर धर्ममार्ग में द्रुत गति से अग्रसर होना बड़ा ही कठिन हो जाता है। पर इसीलिए हताश होकर छोड़ देने से भी नहीं चलेगा। उन्हें अतिक्रमण करने के लिए जितने ही दृढ़प्रतिज्ञ होओगे उतने ही वे मार्ग छोड़कर भागने लगेंगे और शायद वे ही शत्रुता छोड़कर तुम्हारे अनुकूल और सहायक बन जायँगे। कठिनाइयों से जितना ही डरोगे उतना ही वे ज्यादा भय दिखाती हैं और जोर पकड़ती हैं।

---

१२४. यदि पूर्वजन्म के शुभ संस्कार न हों तो शास्त्र

और गुरु का उपदेश ठीक ठीक हृदयंगम नहीं होता। पाण्डित्य या अन्य विषय में कोई सम्भवतः खूब उन्नत हो सकता है, समाज में उच्च पद और मान-सम्भ्रम प्राप्त कर सकता है, और करोड़ोपति हो सकता है, व्यवसाय-वाणिज्य में खूब मन देकर उसका प्रसार कर सकता है, पर धर्म या सूक्ष्म परमार्थ तत्त्व के विषय में शायद वह बिलकुल ही अज्ञ या बालकवत् रह सकता है, साधारण विषय भी सरलता से नहीं समझ सकता। फिर भी यदि वह सत्यनिष्ठ, विश्वासी, सरल और हृदयवान हुआ तो ईश्वर की कृपा से उसे साधु-संग और सद्गुरु का आश्रय मिल जाता है। उसके फल-स्वरूप वह धर्म के सूक्ष्मतत्त्व की भी उपलब्धि करने में समर्थ होता है।

---

१२५. शुभ संस्कार अधिक न रहने पर भी, चेष्टा, लगन और अभ्यास के जरिये अनुकूल संस्कार पैदा हो जाते हैं। अभ्यास में महाशक्ति निहित है। दीर्घ काल तक, श्रद्धा से निरन्तर अभ्यास करते रहने से यह दृढ़ हो जाता है, जिसका अभ्यास करते रहोगे वही बाद में स्वभाव बन जायगा। तब कुछ भी जबरन नहीं करना पड़ता, स्वाभाविक ही होने लगता है। भगवान के स्मरण मनन प्रार्थना जपध्यान आदि का अभ्यास होने से, अन्य कार्यों में लगे रहने पर भी ये भीतर से आपरूप होते रहते हैं। कम्पास की सुई के समान वे तन्मुखी बने रहते हैं, विषयासक्ति दूर हो जाती है, और कोई भी विपत्ति उसे विचलित नहीं कर

पाती। मरणकाल उपस्थित होने पर भी मन शान्त और उन्हीं में मग्न रहता है। उसे और पुनः पुनः जन्ममृत्यु का भोग नहीं भोगना पड़ता, वह परमपद में लीन हो जाता है।

---

१२६. विवेक-वैराग्य और अनुराग के साथ अनन्य-भाव से साधनभजन करके यदि कोई भगवान को हृदय में प्रतिष्ठित कर सके तो उन्हें भीतर, बाहर, सर्वत्र, सकल वस्तुओं में देखा और उपलब्ध किया जा सकता है। तब और कुछ प्राप्त करने का, अभिलाषा करने का नहीं रह जाता, जीव आनन्दमय हो जाता है। यही है मानवजीवन धारण करने का एकमात्र उद्देश्य। अन्य सब मन की भ्रान्ति मात्र है।

---

१२७. जितना हो सके, जी भर के जप-तप करो। पर हृदय में यही धारणा दृढ़ रखो कि इतना जप-तप करता हूँ, इसीलिए भगवान दर्शन देंगे, कृपा करेंगे, ऐसी बात नहीं है, उन्हें प्राप्त करना, उन्हीं की कृपा से होता है। साधनभजन केवल अहंकर्तृत्वप्रसूत प्रवृत्तियों को थकाकर शान्त करने के लिए ही हैं। पक्षी जब उड़ते उड़ते थक जाता है, जब उसके पंखों में दर्द हो जाता है, तब उसकी बैठने की इच्छा होती है। समुद्र के बीच, पुनः पुनः आकाश में उड़कर, मस्तूल के सिवा विश्राम करने का अन्य स्थान नहीं है, यह देखकर पक्षी को उसी मस्तूल का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। परन्तु इस ज्ञान का निश्चय न होते तक, अनन्यशरणागति

नही होती ।

---

१२८. भक्त कभी भी भगवान के साथ लेन-देन, खरीद-विक्री का भाव नहीं रखता । वह जानता है, वे हैं अहेतुक-कृपासिन्धु, वे अपने स्वभाव ही से कृपा करेंगे ही । फिर भी साधनभजन यथाशक्ति करते रहना पड़ता है; सब करने पर बाद में इसी विश्वास पर आना पड़ता है कि यह सब कुछ नहीं । इसीलिए साधक ने गाया है:—

(भावार्थ)

"यदि अपने स्वभाव से ही बचाओ, करुणादृष्टि से देखो, तभी आशा है, अन्यथा जप करने से तुम मिलोगे यह सब तो भूत-विवाह के सदृश ही है ।" भूत का और विवाह कैसा? न हुआ, न होगा । साधनभजन करके किसी ने भी उन्हें न कभी पाया, न पायेगा । साधक जानता है साधनभजन करके उन्हें पाने की आशा "सन्तरणे सिन्धुगमन" अर्थात् तैरकर समुद्र पार होने की आशा के ही समान असम्भव है ।

---

१२९. फिर क्या साधनभजन छोड़कर, उनकी कृपा जब होगी तब होगी, ऐसा सोचकर बैठे रहना पड़ेगा ? जो पिपासा से कातर है, जिसका मन उन्हें पाने के लिए व्याकुल है, वह क्या हाथपैर समेटकर चुपचाप बैठे रह सकता है ? उसकी अवस्था तो है, "आमार मन बुझेछे, प्राण बोझे ना, धरबे शशी होये बामन"—अर्थात् मेरा मन तो समझता है, पर प्राण नहीं मानते, वे तो कहते हैं बौने होकर भी हम तो

चन्द्र को पकड़ेंगे ही। साधक के निकट असम्भव नाम की कोई बात ही नहीं। वह जानता है भगवान असम्भव को भी सम्भव कर सकते हैं; वे सुई के छिद्र में से भी ऊँट को प्रविष्ट करके निकाल सकते हैं।

---

१३०. यथार्थ भक्त और साधक का भाव रहता है—"मुझे जप-ध्यान से आनन्द मिलता है, बिना किये रहा नहीं जाता, इसीलिए करता हूँ; अपने प्राण शीतल करने का अन्य उपाय नहीं, इसीलिए करता हूँ; जपध्यान जैसे मेरा श्वास-प्रश्वास बन गया है, न लेने से जैसे प्राण निकलते हैं, इसीलिए करता हूँ। वे जो मेरे प्राणों के प्राण, आत्मा की आत्मा हैं। उन्हें तो प्राप्त करना ही होगा। चाहे जैसे ही हो। न मिलने से तो पागल हो जाऊँगा, प्राण निकल जायँगे, यह जीवन ही व्यर्थ सिद्ध होगा।" ऐसी व्याकुलता, ऐसी दृढ़ता होने से वे कृपा करेंगे ही। वे तो दयामय हैं। उन्हें मनः-प्राणपूर्वक पुकारने से, उनके निमित्त सर्वस्व त्याग करने से, अनन्यशरण होने से, वे दर्शन देंगे ही, यह निश्चित है।

---

१३१. पर ऐसी व्याकुलता, ऐसी अनन्यशरणागति का भाव क्या सहज ही प्राप्त होता है? अनेक जन्मों तक साधन-भजन करते हुए वह साधक के अन्तिम जन्म में ही होता है। नागमहाशय के जीवन में ही ये सब अवस्थाएँ ज्वलन्त भाव से देखी गयी थीं। सदा ही मानो एक अपूर्व नशे में विभोर, देहज्ञानशून्य तन्मय भाव! कैसी अद्भुत दीनता, कैसी उत्कट

व्याकुलता ! जिसने देखा नहीं वह तो धारणा ही नहीं कर सकता । अद्भुत जीवन ! अद्भुत आदर्श !

---

१३२. मन के स्थिर, शुद्ध तथा निर्मल हुए बिना भगवद्दर्शन नहीं होता । तालाब का जल स्वच्छ और स्थिर न हो तो उसमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता या अस्पष्ट रूप से पड़ता है । दर्पण मैला रहते हुए उसमें मुँह नहीं दिखाई पड़ता, या बिलकुल अस्पष्ट दिखता है । इसके लिए अभ्यास और वैराग्य ही एकमात्र साधन है। अभ्यास के बल पर, जो कठिन और दुर्लभ मालूम होता है, वह भी सहज हो जाता है । जिसका नियमित अभ्यास करोगे वही स्वभाव बन जायगा । साथ ही वैराग्य भी चाहिए । सब ही अनित्य और असार है, एकमात्र भगवान ही सारसत्य और नित्य हैं, ऐसा समझकर केवल उनमें ही मनःप्राण समर्पित कर सकने पर हृदय में प्रेम का उदय होता है। इतना हो जाने पर फिर बाकी ही क्या रहा ! "स ईशः अनिर्वचनीयप्रेमस्वरूपः ।" हृदय में जब यह वाक्यमनातीत प्रेम घनीभूत होकर जम जायगा, तब वही प्रेमघन प्रेममय स्वरूप में रूपान्तरित होकर प्रकाशित होगा ।

---

१३३. आमदनी चाहे जो हो, उसमें से प्रतिमास कुछ बचाकर जमा करने की चेष्टा करनी चाहिए । श्रीरामकृष्ण कहते थे कि गृहस्थ के लिए संचय की बड़ी जरूरत है । भविष्य में बड़े काम आता है । क्योंकि, स्वास्थ्य, नौकरी,

व्यवसाय या धनजन कोई भी स्थायी नहीं हैं। यौवन और प्रौढ़ अवस्था में आहारविहार, लौकिकता, व्यर्थ आडम्बर, असत्संग, असत् प्रवृत्ति और अभ्यास के गुलाम बनकर इन्द्रियसुखभोगों में मोहित हो, भविष्य के लिए कुछ भी चिन्ता न करके, जितनी आमद उतना खर्च, या आमदनी से भी खर्च अधिक करने पर, बाद में अनन्त दुःख भोगना पड़ता है। संसार में रोग-राई, आपत्विपत्, भावना-चिन्ता लगे ही हैं। वृद्धावस्था में जरा-व्याधि का आक्रमण होता है, कर्मशक्ति दिन दिन क्षीण होने लगती है। उस समय पास में कुछ जमा रहने से कठिनाई में नहीं पड़ना पड़ता, हाय हाय नहीं करना पड़ता, मन की सुख-स्वच्छन्दता से ईश्वरचिन्तन में दिन काटे जा सकते हैं।

---

१३४. "माँ, मुझे जैसा चाहो रखो। तुम्हें भूल न जाने में ही मेरा परम मंगल है।" वे हैं मंगलमय, सर्वान्तर्यामी; वे जानते हैं किसके लिए क्या अच्छा है और वे ऐसी व्यवस्था करते हैं जो तुम्हारे लिए और सब के लिए अच्छी हो। एक आदमी का भला करने जाकर वे दूसरों का बुरा तो नहीं कर सकते। हम लोग "मेरा मेरा" करके अपने स्वार्थ की क्षुद्र चहारदीवारी में अपने को बंद करके केवल अपना और स्वजनमात्र का ही सुख चाहते हैं। दूसरों का उससे चाहे जो हो, हमें परवाह नहीं। संसार में दुःख से रहित शुद्ध सुख नाम की कोई वस्तु नहीं है; दोनों इस तरह से मिले हुए हैं कि एक की इच्छा करने पर दूसरा भी

आ ही जाता है। इसीलिए हम मनमानी इच्छा कर बैठते और अन्त में घोटाले में पड़ जाते हैं, ऐसा ही तो है न! तुम्हारा-हमारा किससे यथार्थ मंगल होगा, यह वे हम-लोगों की बनिस्बत, ज्यादा ठीक तरह से समझते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। इसीलिए उन पर समस्त भार छोड़कर, वे जो भी विधान करें उसमें ही सन्तुष्ट होकर और उनके शरणागत होकर जीवन बिताने से, सुख दुःख कोई भी मनुष्य को विचलित नहीं कर पाता।

---

१३५. "वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां,
गृहेऽपि पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते,
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्॥"*

अर्थात् "विषयी लोगों के मन में, वन में भी विकार उत्पन्न होता है; पंचेन्द्रिय-निग्रहरूपी तप घर में भी सम्भव है; जिनकी बुद्धि शुभ कर्मों में लीन है उन रागासक्तिरहित व्यक्तियों के लिए तपोवन और घर समान हैं।" इसी मन को लेकर कहीं भी जाओ, जो भी करो छुटकारा नहीं,—भोग अनिवार्य है। और शायद नये नये बन्धनों में जड़ित हो जाओगे। पर जो संसार में रहकर ही, साधनभजन करके मन को वश में ला सकता है, विषयों से आसक्तिशून्य हो सकता है, उसके लिए वन और घर दोनों ही एक समान है। वह चाहे जहाँ रहे और चाहे जो करे वह सदा नित्य-

---

* हितोपदेश, चतुर्थ अध्याय, सन्धि।

मुक्त और आनन्दमय है।

---

१३६. साधारण लोग बिना बात किए कुछ समय भी नहीं रह सकते। यदि कोई बोलने को न मिले तो मन में ही बात करते रहते हैं। विचारमग्न रहने का और क्या मतलब है? यही, अपने आप बात करना। ऐसा ही यदि होना है तो व्यर्थ ही ऊटपटांग बोलने-बकने से ईश्वर का नामस्मरण, चिन्तन क्या अच्छा नहीं? कामकाज के लिए अवश्य ही तत्सम्बन्धी लोगों से अनेक बातें करनी पड़ती हैं। परन्तु जब अकेले रहो या विशेष कार्य में व्यस्त न रहो तब व्यर्थ की भावना चिन्ता से मुक्त रहकर भगवान का स्मरण-मनन और नामजप ही उचित है। अन्य विचार मन में न आयें इसके लिए नामजप के अभ्यास की आवश्यकता है। जप है अखण्ड, लगातार, एक तान से भगवान का नाम लेते जाना।

---

१३७. जप के समय, नाम और नामी अभेद हैं यही सोचकर उनका चिन्तन करना चाहिए। जो नाम है वही नामी है अर्थात् नाम लेते ही जिसका नाम है उसी का बोध होता है। किसी काम के लिए यदि किसी का नाम लेकर पुकारो तो उसके साथ ही साथ उसकी मूर्ति भी मन के सम्मुख भासित हो उठती है और वह भी प्रत्युत्तर देता है या आ जाता है। जप भी ठीक ऐसा ही है, यदि ठीक तरह से हो और उनमें ही मन लगा रहे। और यह विश्वास भी

रहना चाहिए कि मेरी पुकार उनके पास पहुँचती ही है और उसका प्रत्युत्तर मुझे मिलेगा ही। प्रार्थना के सम्बन्ध में भी ऐसा ही है, यदि वह आन्तरिक हो। अभ्यास करते करते यह भाव परिपक्व हो जाता है, मन तद्गत हो उठता है एवं उनके सान्निध्य की गम्भीर अनुभूति होती है। इसीलिए शास्त्रों में कहा है—"जपात् सिद्धिः।"

---

१३८. योगी लोग कहते हैं कि शरीर के भीतर सात पद्म या नाड़ीचक्र हैं। गुह्य देश में है मूलाधार, चतुर्दल; लिंगमूल में है स्वाधिष्ठान, षड्दल; नाभि देश में है मणिपुर, दशदल; हृदय में है अनाहत, द्वादशदल; कण्ठ में है विशुद्ध, षोड़शदल; भ्रूमध्य में है आज्ञा, द्विदल; और मस्तक में है सहस्रार, सहस्रदल कमल। वे और कहते हैं कि मेरुदण्ड के वामभाग में इड़ा, दक्षिणभाग में पिंगला और मध्य में सुषुम्ना नाड़ी है। यही सषुम्ना नाड़ी, मूलाधार से लेकर, यथाक्रम छहों पद्मों को भेदकर सहस्रदल कमल में ब्रह्मस्थल पर जा मिली है। पर कुण्डलिनी शक्ति के जागृत होने तक सुषुम्ना का मार्ग बन्द रहता है। कुलकुण्डलिनी है आत्मा की ज्ञानशक्ति, चैतन्यरूपिणी, ब्रह्ममयी। वे सब जीवों में मूलाधार पद्म में सोते हुए साँप के समान मानो निर्जीव रूप से उपस्थित हैं—मानो नींद ले रही हों। वे योग, ध्यान, साधनभजनादि के द्वारा जागृत होती हैं। मूलाधार में वही शक्ति जब जागृत होकर, तथा सुषुम्ना नाड़ी के भीतर से होकर क्रमोत्तर मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत,

विशुद्ध और आज्ञा चक्र को भेदकर सहस्रदल कमल में परमशिव या परमात्मा के साथ मिलती है तब दोनों के संयोग से जिस परमामृत का क्षरण होता है उसे पान कर जीव समाधिस्थ हो जाता है। तभी जीव को चैतन्यलाभ होता है, आत्मस्वरूप का ज्ञान होता है। तब ज्योतिदर्शन, इष्टमूर्तिदर्शन प्रभृति अनेक आश्चर्यपूर्ण आध्यात्मिक अनुभव होते हैं। गुरु और परमेश्वर की कृपा से और साधक के पुण्यप्रताप से कभी कभी वे स्वयं ही, अल्प आयास से ही जागृत हो जाती हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे, इस निर्विकल्प समाधि की अवस्था में साधारणतः २१ दिन से अधिक शरीर नहीं रहता, जीव परमात्मा या परब्रह्म में लीन हो जाता है। यही हुआ संक्षेप में षट्चक्रभेद का वर्णन।

---

१३९. पर जो जगद्गुरु, आचार्यकोटि या ईश्वरकोटि के मनुष्य होते हैं, जो मुक्त होकर भी जगत् के कल्याण के निमित्त किसी विशेष ईश्वरीय उद्देश्य को सिद्ध करने के लिए देहधारण करते हैं, वे ब्रह्मानन्द को भी तुच्छ गिनकर, जागृत कुण्डलिनी शक्ति को उसी मार्ग से सहस्रार (मस्तक) से अनाहत चक्र (हृदय में) वापिस नीचे लाकर, 'भावमुखी' होकर रहते हैं, अर्थात् द्वन्द्वातीत पारमार्थिक (Absolute) और व्यावहारिक (Relative) ज्ञान में ही, चढ़ना-उतरना किया करते हैं और सहस्रावधि जीवों का अविद्या के मोह से उद्धार करते हैं।

---

१४०. स्वामी विवेकानन्दजी ने कहा है, यथारीति शास्त्रीय विधान और विज्ञानसम्मत प्रक्रियाओं का साधन न करके भी, क्वचित् कभी, किसी किसी महापुरुष की कुण्डलिनी शक्ति स्वयं ही जागृत हो उठती है—हठात् सत्यलाभ के बतौर। मार्ग में चलते चलते ठोकर खाकर कोई आदमी मानो देखता है कि एक पत्थर हट गया है, और उसके नीचे न मालूम क्या जगमगा रहा है। पत्थर उठाकर देखता है तो नीचे घड़ों में मुहरें रखी हैं; इसी प्रकार। पर वे जैसे संसार का कुछ भला करते हैं, वैसे ही अपने मन की संकीर्णता और कट्टर साम्प्रदायिकता से जगत् का अहित भी कर डालते हैं। सामूहिक रूप से, खूब उच्च स्वर से नाम-संकीर्तन आदि करते हुए, बहुतसे लोग भावोच्छ्वास उदित हो उठने से रोते रोते, नाचते नाचते, बेहोश हो जाते हैं। उनकी भी कुण्डलिनी शक्ति क्षणिक और थोड़ी जग उठती है, किन्तु उसकी प्रतिक्रिया भयानक होती है। प्रायः देखा जाता है कि उन्हें अपनी कुटेवों को चरितार्थ करने की इच्छा होती है, और दुनिया के सामने अपने को भक्त और धार्मिक जाहिर करके मानयश लाभ करने की प्रबल आकांक्षा होती है और वे परिणामतः कपटाचारी और भाण्ड बन जाते हैं।

---

१४१. सूर्य के प्रकाश से ही जैसे लोग सूर्य को देखते हैं, दीपक जलाकर नहीं, वैसे ही भगवान की कृपा से ही उनका दर्शन लाभ होता है, मनुष्य की क्षुद्रशक्ति से नहीं। फिर भी जैसे मेघाच्छन्न हो जाने से सूर्य नहीं दिखता,

वैसे ही अविद्या और माया भगवान को देखने नहीं देतीं। साधन, भजन, प्रार्थना आदि के वायुवेग से यह बादल उड़ जाता है और वे प्रकाशित हो जाते हैं। साधनभजन आदि उनके दर्शन में कारणभूत नहीं हैं, क्योंकि वे स्वयंप्रभ हैं। ये तो केवल आवरण, कठिनाई, विघ्न आदि को नष्ट करते हैं।

---

१४२. ज्ञान, भक्ति, पवित्रता, वैराग्य, व्याकुलता-- ये सब ईश्वरीय भाव हैं, उनका निजस्व ऐश्वर्य। वे जिस पर कृपा करने की और जिसे दर्शन देने की इच्छा करते हैं, उसे पहिले से ही ये सब देकर भूषित कर देते हैं। तब समझ में आता है, मोहरात्रि प्रायः बीत गयी, अरुणोदय के लिए और विलम्ब नहीं। श्रीरामकृष्ण की वह उक्ति तो विदित है,-- अपनी रैयत के किसी गरीब की प्रार्थना पर जमींदार उसके घर जाने के लिए राजी हुए और अपने व्यवहार में आनेवाला सब सामान-असबाब उसके घर पहिले से पहुँचा दिया; क्योंकि वह बेचारा गरीब आदमी वे सब बहुमूल्य चीजें कहाँ से पावे? भगवान उसी पर कृपा करते हैं जो उनके लिए अपना सर्वस्व त्यागकर, व्याकुल अन्तःकरण से उन्हें चाहता है।

---

१४३. तो क्या फिर भगवान के लिए भी कोई प्रिय और कोई अप्रिय है? जो संसार में स्त्री पुत्र परिवार और विषय लेकर उन्हें भूला हुआ है, उस पर क्या वे कृपा नहीं करते, उस पर क्या वे असन्तुष्ट हैं? ऐसा क्यों होगा। भक्त-अभक्त, संन्यासी-गृही, सभी तो उनकी सन्तान हैं।

बच्चा जब माँ को भूलकर खेल में मस्त रहता है, तब भी उस पर जैसे माँ का प्रेम और अनुराग रहता ही है, उसी प्रकार का स्नेह उस पर तब भी होता है जब वह सब खिलौने फेंककर 'माँ माँ' कहकर रोता है और माँ सब काम छोड़कर उसे गोद में लेकर उसका लाड़-प्यार करने लगती है। माँ सोचती है, जब तक खेल में भूला है, उससे सुख पाता है, ठीक तो है, खेलता रहे। जब उसे खेल और अच्छा नहीं लगता, सब खिलौने फेंककर माँ को ही चाहता है, किसी से भी नहीं मानता, तब माँ उसे गोद में लेती है। और माँ की गोद में जो सुख बालक को होता है वह क्या खिलौनों में मिलता है ? पर क्या किया जाय, फिर भी खेलना नहीं छोड़ता। इसे ही कहते हैं माया।

---

१४४. चाहे जितनी बादलों की गर्जना हो, वर्षा की झड़ी लगी हो, बिजली चमकती हो या बिजली गिरती हो, चातक पक्षी उससे जरा भी न डरकर, आकाश की ओर देखकर मन भरके वृष्टिजल पान करता है और अपनी पिपासा शान्त करता है। नीचे के जलाशयों का पानी वह कभी भी न पीयेगा, चाहे प्यास के मारे प्राण ओठों तक ही क्यों न आ जायँ। इसी तरह परमेश्वर का एकान्त भक्त अपने प्राणों की पिपासा मिटाने के लिए, एकमात्र परमेश्वर की ओर ही अपनी दृष्टि निबद्ध रखता है, भगवान को छोड़कर वह किसी से भी या किसी की भी प्रत्याशा नहीं रखता। वह जानता है कि जो कुछ है वह सब उनकी ही कृपा का दान

है । उसे चाहे परमेश्वर का जितना रुद्र स्वरूप देखने को मिले, संसार में चाहे जितने दु:खकष्ट, अभाव-दारिद्रय विपत्ति-कठिनाई उसे प्राप्त हों, वह किसी से भी विचलित नहीं होता । वह जानता है, भगवान हैं मंगलमय, जो कुछ करते हैं, वह उसके स्वयं के और दूसरों के कल्याण के निमित्त ही करते हैं । उसमें सन्तुष्ट न होने का अर्थ है उनमें दोष निकालना, उनके विरुद्ध अभियोग लगाना । भक्त प्राणान्त दशा में भी ऐसा नहीं कर सकता ।

---

१४५. त्रितापदग्ध जीव को जो शान्ति के पथ पर, भगवान की ओर ले जाते हैं वे ही हैं गुरु । गुरु और शिष्य का सम्बन्ध है पारमार्थिक पिता-पुत्र के भाव का । लौकिक पिता जन्म देते हैं । गुरु शिष्य को परमपद के दर्शन दिलाकर जन्म-मरण के चक्र से उसका उद्धार करते हैं । पितृऋण वंश-रक्षा और श्राद्धादि के द्वारा चुकाया जा सकता है । परन्तु गुरु अविद्या से उद्धार करते हैं, अत: उनका ऋण शोध नहीं किया जा सकता--सर्वस्व अर्पण करके भी नहीं । जिस तरह वंश-परम्परा के अनुसार पिता, पितामह आदि के कुछ न कुछ गुण पुत्र-पौत्रादि में उपस्थित होते हैं उसी तरह गुरु-परम्परा से कुछ न कुछ आध्यात्मिक भाव शिष्य-प्रशिष्यों में भी दिखाई पड़ते है ।

---

१४६. व्यस्त होने से वस्तुलाभ नहीं होता । परमात्मा ही एकमात्र वस्तु, सार, सत्य और बाकी सब कुछ--

संसार-प्रपंच--अवस्तु, असार, असत्य और धोखा देनेवाले हैं, अतः त्याज्य हैं, यह ज्ञान परिपक्व होना चाहिए।

---

१४७. जब 'तुम' न रहोगे, तभी 'तुम' सत्य सत्य रहोगे। तभी तुम्हारा यथार्थ जीवन शुरू होगा जब 'तुम्हारा' मरण होगा। "मैं मरते ही मिट गया जंजाल।"

---

१४८. हम लोग, मानो संसार के ऊपर ही हमारा जीवन-मरण निर्भर हो ऐसा सोचकर, प्राणपण से अपने स्वार्थ और अधिकार रक्षा के लिए न मालूम कितना तूफान मचाते हैं, खुद अशान्ति भोग करते हैं और दूसरों की क्षति और सर्वनाश करते भी कुण्ठित नहीं होते। रातदिन दौड़-धूप, लूटपाट और काटाकाटी करते करते प्राण निकलते हैं। लोग जैसे कहते ही हैं, "मुझे तो मरने की भी फुरसत नहीं है।" महामाया की माया ऐसी ही है! माँ बैठे बैठे खेल देखती है और हँसती है। जैसे बिल्ली या कुत्ते के छोटे बच्चे खेलते हैं, एक दूसरे को काटाकाटी करते हैं, एक-आधा दाँत भी गड़ा देते हैं। हम खेल में व्यर्थ ही जरूरत से बहुत ज्यादा गुरुत्व आरोपित कर देते हैं और उसके साथ बिलकुल घुलमिलकर उसमें इतने अपने को संलग्न कर देते हैं कि हमें अपने मरने-जीने का भी होश नहीं रहता। इससे खेल तो खूब अच्छा जमता है, जैसे कि नट या नटी अपनी भूमिका के साथ मिलघुलकर, एकरूप होकर अभिनय करने से अभिनय बिलकुल सच्चा मालूम पड़ता है--पर वह है

कुछ समय के लिए ही।

---

१४९. जगत् और जीवन खेल मात्र हैं, ऐसी दृढ़ धारणा होने से खेल खतम हो जाता है । मैं स्वप्न देखता हूँ, कितना हँसता हूँ, रोता हूँ, विषम विपत्ति में पड़कर कोई कूलकिनारा नहीं मिल रहा है, भय से आर्तनाद कर रहा हूँ, चीत्कार कर उठता हूँ । उस समय विचार-बुद्धि नष्ट हो जाती है, अद्भुत कार्य भी स्वाभाविक और सत्य मालूम पड़ते हैं, पर जैसे ही निद्रा भंग हुई और यह स्वप्न था ऐसा मन में आया कि बस, उसी दम स्वप्न नष्ट हो जाता है। तब लोग प्रकृतिस्थ होकर सोचते हैं, "अरे, बच गया, यह तो स्वप्न देखा था ।" और शायद सुस्वप्न देखने को मिला, लाटरी में दो लाख रुपये मिले हैं, खुशी में फूला नहीं समाता, हठात् स्वप्न भंग हो गया, हताश होकर मन मसोस कर रह गया। हमारा जीवन भी वैसा ही एक दीर्घ, लम्बा खिचा हुआ स्वप्न ही नहीं तो और क्या है ! दुःस्वप्न-सुस्वप्न, आशा-निराशा, सुख-दुःख के ही ताने-बाने हैं। जब तक स्वप्न देख रहा हूँ, सब सत्य है ऐसा मालूम पड़ता है। स्वप्न के नष्ट होते ही जगत् संसार न मालूम कहाँ उड़ जाता है; तब केवल नित्य सत्य स्वरूप ही विद्यमान रहता है।

---

१५०. भगवान किसी पर नाराज क्यों होंगे ? अभीष्ट-प्राप्ति में विघ्न उपस्थित होते ही क्रोध पैदा होता है। उनके

लिए क्या अभीष्ट है, क्या प्राप्य या अप्राप्य है और उन्हें बाधा भी कौन दे रहा है? वे तो हमसे कुछ प्रत्याशा नहीं करते। हम चाहे उन्हें पुकारें या भूले रहें, उससे उनका कुछ आता जाता नहीं। उससे हमारा ही नफा नुकसान, सुख या दुःख, मंगल या अमंगल होता है।

---

१५१. उपनिषद् कहते हैं कि जो ऐसा समझता है कि मैं ब्रह्म को जानता हूँ वह दरअसल में कुछ नहीं जानता। जो जानता है कि वे अवाङ्मनसगोचर, पूर्णज्ञानस्वरूप ज्ञानातीत हैं, वही उन्हें ठीक ठीक जानता है। तब वह ब्रह्म ही हो जाता को है। ज्ञाता को कौन जान सकता है? जान लेने पर तो ज्ञाता ज्ञेय हो गया, सीमाविशिष्ट हो गया। जो कुछ भी सीमाविशिष्ट है, जो कुछ भी देश-काल-निमित्त के अधीन है, जिसका कार्य-कारण-सम्बन्ध है, उसकी उत्पत्ति और विनाश है, उसमें दोषगुण हैं, वह कभी भी मुक्ति या पूर्णता का प्रदाता नहीं। अतः उसे जानकर या उपासना करके, या प्राप्त करके भी लाभ क्या?

---

१५२. ब्रह्म (ईश्वर) सत्य, ज्ञान, आनन्दस्वरूप, अनन्तस्वरूप हैं, ये उनके गुण नहीं हैं, वरन् सत्ता हैं। गुण वस्तु को सीमाविशिष्ट करते हैं, गुण नित्य नहीं हैं, क्योंकि गुणों की क्षयवृद्धि होती है। इसीलिए वे गुणातीत हैं, सर्वातीत। उनके सम्बन्ध में "नेति नेति" मात्र कहा जा सकता है। उनके पूर्ण स्वरूप की उपलब्धि होने पर यह

कहना भी नहीं बनता, क्योंकि उस समय द्वैतभाव लुप्त हो जाता है, तब बोले कौन ? किन्तु साकार रूप में वे अनन्त गुणों के आधार हैं।

---

१५३. ब्रह्म यदि "एकमेवाद्वितीयम्" हो तो फिर उनमें माया कहाँ से आ गयी और क्यों आयी ?--यह प्रश्न पूछने से कोई लाभ नहीं; क्योंकि इस प्रश्न का उत्तर माया के भीतर से कभी भी नहीं दिया जा सकता। और माया के बाहर चले जाते ही तब इस प्रश्न को करेगा ही कौन ? उसके लिए उस समय माया नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व ही नहीं रहता। तब द्रष्टा-दृश्य भाव नष्ट होकर एकत्व मात्र का अनुभव होता है। अर्थात् वह उस समय अनुभव करता है कि एकमात्र ब्रह्म ही तीनों कालों में (भूत, भविष्यत् और वर्तमान में) सम भाव से स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्हें माया ने कभी भी स्पर्श नहीं किया। द्वैतबोध भ्रममात्र ही है और मैं वही ब्रह्म हूँ।

---

१५४. जो गुरु के उपदेशों में अकपट श्रद्धा और विश्वास रखकर उन्हें ठीक बतलाये अनुसार प्राणपण से पालन करने की चेष्टा करता है और गुरु की प्रसन्नता के लिए उनकी सेवा आदि करने को तत्पर रहता है, वही यथार्थ शिष्य है। गुरु को कदापि साधारण मनुष्य नहीं समझना; उन्हें साक्षात् ईश्वर समझकर, सारे अन्तःकरण-पूर्वक प्रेम-भक्ति करने से धर्ममार्ग में शीघ्रतापूर्वक उन्नति

और सिद्धि प्राप्ति होती है। सद्‌गुरु ही हृदयस्थित परमगुरु (इष्ट) के साथ मिलन करा देते हैं। उनके भीतर से ही आध्यात्मिक धारा शिष्य में प्रवाहित होती है। और, तो क्या, गुरुकृपा से सम्पूर्ण अभीष्ट ही प्राप्त हो जाता है। पर शिष्य को भी उसी तरह का उपयुक्त अधिकारी होना चाहिए। मन-वाणी-शरीर की पवित्रता, ज्ञान, भक्ति, मुक्ति लाभ के लिए तीव्र व्याकुलता, विषयों से वितृष्णा और अदम्य उत्साह और अध्यवसाय चाहिए। गुरु को भी शास्त्रों का मर्मज्ञ, पापशून्य, और ब्रह्मनिष्ठ होना उचित है; वे भोगेच्छाशून्य, नि:स्वार्थ, परहितव्रती हों, सब जीवों के प्रति उनकी दया और प्रेम समान हो।

---

१५५. पिता और गुरु, पुत्र और शिष्य से पराजित होने की कामना करते हैं। मेरा पुत्र, मेरा शिष्य मुझसे भी खूब बड़ा हो, उन्नत हो, मान-यश लाभ करे—अन्त:करण से उनकी ऐसी ही इच्छा होती है। बाप पुत्र से भविष्य में अनेक विषयों में कुछ मिलने की आशा भी रखता है, पर गुरु शिष्य से अपने लिए कुछ भी प्रत्याशा नहीं करते। उनका काम, उनका स्वभाव ही होता है केवल दिये जाना। स्वामी विवेकानन्द हम लोगों को कहा करते थे, "तुम लोग एक एक जन विवेकानन्द से भी खूब बड़े और महान् हो जाओ भला। ऐसा यदि हो तो मैं खूब ही सुखी होऊँ और अपना संसार में आना सार्थक समझूँ।"

---

१५६. मुर्दे पर तलवार की चोट करने से उसे कुछ भी नहीं लगती। शरीर को यदि शव किया जा सके अर्थात् शरीर में आत्मबोध यदि नष्ट किया जा सके, तो फिर संसार के चाहे जितने तीव्र आघात ही उस पर क्यों न पड़ें, वे उसे स्पर्श ही नहीं कर सकते। ऐसा मनुष्य ही निर्विकार होता है, जीवन्मुक्त। उसके निकट संसार और श्मशान दोनों एक समान हैं।

---

१५७. इस शरीर के प्रति आसक्ति ही—देहात्मबुद्धि ही—जितने अनर्थ हैं सब का मूल कारण है। इसीसे जितने भी भय, भूलचूक और अधर्म हैं उनकी उत्पत्ति होती है। शरीररक्षा के लिए, प्राणधारण के लिए ऐसा पाप नहीं जो लोग न करते हों—चोरी, ठगी, लोगों का सर्वनाश और हत्या तक। कामिनीकांचन ही उसका एकमात्र उपास्य देवता होता है। फलतः सुख की आशा में वह केवल दुःखों को ही वरण करता है, देहरक्षा की आशा में वह मृत्यु को ही आलिंगन करता है। प्रतिक्षण ही उसे मृत्युभय बना रहता है। किन्तु जो महापुरुष देहबुद्धि का त्याग कर सके हैं, वे एक सामान्य जानवर के लिए भी बिना हिचकिचाहट के खुद का जीवन देने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। देह तो उनके निकट कुछ भी नहीं है, अति तुच्छ वस्तु। मनुष्य दो श्रेणी के होते हैं, पशुमानव और देवमानव,—देही और विदेह। देहबद्ध जीव पशुमानव, विदेह पुरुष देवमानव।

---

१५८. समस्त कर्मों का फल-अफल सब भगवान को अर्पण करना जरूरी है--अच्छे-बुरे सब। पुण्यादि शुभ कर्म मैंने स्वयं किये हैं, इसलिए मन में गौरव-बोध हुआ और उनके फल निज सुखभोग के लिए रख लिये; पापादि कुकृत्य जिनसे बाद में दुःखभोग होगा, वे सब उनकी इच्छा से हुए हैं, उन्होंने जैसा कराया वैसा ही किया, अतः उनके फल उन्हें समर्पित कर दिये, उन्हें ही जबाबदार बना दिया, ऐसा नहीं। जो अपने लिए कुछ न रखकर, अपने लिए कुछ भी चिन्ता न करके, भगवान को सब कुछ समर्पित कर देता है, वे भी उसे सब देते हैं।

---

१५९. जो शब्द या नाम अविद्या से मन को बचाये उसे ही मन्त्र कहते हैं।

---

१६०. पातंजल दर्शन में अविद्या की परिभाषा इस तरह की है--अनित्य में (संसार में) नित्यत्व-बोध, अपवित्र (शरीरादि) में पावित्र्य-बोध, दुःख में (दुःखमय विषय-भोगादि में) सुखबुद्धि, अनात्मवस्तु में आत्मबोध, अर्थात् स्त्रीपुत्रादि जो कोई भी अपने नहीं हैं उनमें आत्मीयता की धारणा। अविद्या अनादि है, अर्थात् कब से प्रारंभ हुई है यह निर्णय नहीं किया जा सकता और संसारकार्य--संसृति --के हिसाब से उनकी निवृत्ति भी नहीं। प्रलय में भी वह बीजरूप से रहती है और सृष्टि के समय पुनः आविर्भूत होती है। जब तक ज्ञानलाभ न हो, मनुष्य बार बार जन्म-

मृत्यु के अधीन होकर अपने भाव और कर्मों के अनुसार मनुष्य या पशुपक्षी आदि योनियों में नाना दुःखभोग करता है।

---

१६१. फिर क्या मुक्ति की चेष्टा करना व्यर्थ है? नहीं, क्योंकि अविद्या व्यक्तिविशेष के लिए सान्त है, अर्थात् जब अशेष यन्त्रणा भोगकर, विवेक, वैराग्य का उदय होता है और जीव भगवान का शरणागत होता है तब उनकी कृपा से ज्ञानलाभ होने पर अविद्या समूल नष्ट हो जाती है। इसीलिए परम कारुणिक भगवान ने गीता में बारबार कहा--"इस अनित्य दुःखमय संसार में आकर एकमात्र मेरा ही भजन कर, मेरी शरण में आ। मैं समस्त पापों से तुझे मुक्त कर दूँगा, इस जन्ममृत्युरूप दुस्तर संसारसागर से तुझे पार करके आनन्दधाम में ले चलूँगा।"

---

१६२. आजकल तो यही स्थिति है कि "ला दो भैया बैठ उड़ावें, हम तो हिल भी नहीं सके"; कोई भी कुछ खटपट नहीं करना चाहता, चालाकी से ही, धोखा देकर सब अपना काम बनाना चाहते हैं। विशेषतः आध्यात्मिक विषयों में वे चाहते हैं--इतनी चेष्टा करना हमें तो पुराता नहीं, तुम्हीं सब कर दो तो हो! कुछ दिन या कुछ महीने एक-आध घण्टा आँख मूँदकर बैठ देखा और शिकायत करने लगे, "मेरा तो कुछ भी नहीं होता, मन को ही स्थिर नहीं कर पाता, कुछ भी उन्नति नहीं मालूम पड़ती" इत्यादि। स्वामी विवेकानन्दजी कहते थे, "क्यों, भगवान शाक-सब्जी

ही हैं न, झट पैसा फेंका और खरीद लिया !" शीघ्र फल-प्राप्ति की ओर इतनी नजर क्यों ? काम किये चलो, समय पर आप ही फलप्राप्ति होगी । संसारी आदमी के लिए काम करने पर वह मजूरी देता है और भगवान के लिए काम करने पर क्या वे नहीं देंगे ? विश्वास, निष्ठा, अनुराग चाहिए, धैर्य, अध्यवसाय चाहिए । बीज बोते बोते ही क्या पौधा बनकर फलने लगता है ? उसके पीछे कितना काम करना पड़ता है, लगे रहना पड़ता है, तब कहीं समय आने पर फसल मिलती है ।

---

१६३. देखा जाता है, अनेक लोग दीक्षा लेने के बाद कुछ दिन खूब लगन से जपध्यान करते हैं और उसमें विशेष आनन्दलाभ करते हैं । उसके बाद वह भाव हठात् चला जाता है, बैठना फिर किसी भी तरह प्रिय नहीं लगता । हृदय जैसे सब खाली खाली बोध होता है और वह अपने को अवलम्बनशून्य और असहाय समझने लगता है । पर इसमें डरने या निराश होने जैसा कुछ भी नहीं है । सभी बातों में चढ़ाव-उतार, ज्वार-भाटा, मिलन और विरह है। साधक का मन भी आशा-निराशा, आलोक-अन्धकार से आच्छन्न होता है । जिसके अन्तर में ईश्वर या धर्म-लाभ की तीव्र आकांक्षा जागृत हुई है,उसकी व्याकुलता इन अवस्थाओं में बढ़ती है, वह कातर होकर रोता है, भगवान से कृपा की भिक्षा माँगता है, स्थिर नहीं रह सकता । तब वह उनकी कृपा से पुनः दुगुने उत्साह से साधना में संलग्न हो जाता है और पहले की अपेक्षा काफी आगे बढ़कर आनन्द लाभ

करता है ।

---

१६४. और एक श्रेणी के लोग हैं जिनका नवानुराग क्रमशः क्षीण हो जाता है; मन में वह तेज और बल नहीं रह जाता, धर्म-कर्म सब रूढ़ियों का रूप धारण कर लेते हैं, उन्हें वे बेगार के रूप में, नियमरक्षा के लिए प्रतिवर्ष करते जाते हैं, या वे उस कार्यक्रम और आसन को ही उठा देते हैं। संसार के विभिन्न कामकाज, समयाभाव या शारीरिक अस्वस्थता का कारण बताकर मन को ठगते हैं। ऐसी हालत में समझना होगा कि उन्होंने एक सामयिक उच्छ्वास के वश या संसार में कुछ विशेष ठोकर खाकर, या शोक में पड़कर क्षणिक धर्मभाव या वैराग्य की प्रेरणा से, या किसी विशेष स्वार्थसिद्धि की आशा से दीक्षा ली थी अथवा संसारत्याग किया था। इनसे कोई विशेष आशा नहीं की जा सकती।

---

१६५. कितने ही कहते हैं, "गुरु ने जब दीक्षा दी है तो मेरे सब पापों का भार भी ग्रहण कर लिया है, मुझे तो अब करने या सोचने के लिए कुछ भी नहीं, उनकी कृपा से ही सब हो जायगा।" पाप का भार देना या लेना वे जितना सहज समझते हैं वैसा नहीं है। ऐसी हालत में फिर चिन्ता ही क्या थी, सभी अनायास ही निष्पाप हो जाते। पाप का भार गुरु या भगवान को देने गये तो साथ ही पुण्यों का भार भी देना पड़ता है। केवल दुःखभोग का अंश दिया और सुखभोग का खुद के लिए रख लिया, इस अवस्था में न तो

तुम्हारा ठीक ठीक देना होता, न उनका लेना। और पापों का भार देकर निष्पाप हो जाने पर उस आदमी से फिर कोई पापकर्म करना भी सम्भव नहीं। यदि बाद में भी मन में पहले के समान पाप या कुप्रवृत्ति रहे, यदि दीक्षा लेकर भी नवजीवन का लाभ न हो तो समझना होगा कि दीक्षा के समय पापराशि——श्रीरामकृष्ण की उस रहस्योक्ति में कहे अनुसार——गंगास्नान करते समय जरा दूर पेड़ पर बैठी रहती है और गंगा में नहाकर आते ही पुनः कूदकर गर्दन पर सवार हो जाती है, इनके पाप भी ऐसा ही करते हैं और क्या !

---

१६६. और एक बात है। गुरु पर यदि बिन्दुमात्र भी प्रेम हो, श्रद्धाभक्ति हो, तो फिर उनके कन्धों पर अपना सब कूड़ा-कर्कट और मैला लादकर परिणामतः उन्हें दुःख-यन्त्रणा भोग कराने के लिए क्या दिल चाहेगा ? गुरु क्या मैला फेंकने की गाड़ी है ? जिनकी इतनी भक्ति नहीं है, जो घोर विषयासक्त और स्वार्थी हैं, उनकी ही ऐसी हीन बुद्धि होती है। वे तो शिष्य नाम से परिगणित होने लायक भी नहीं हैं। और जिनकी गुरु के प्रति गाढ़ श्रद्धा और प्रेम है वे तो इस भय से कि शायद बाद में गुरु को भोगना पड़े, कोई पापकर्म ही नहीं कर सकते। हाँ ऐसे शिष्य का पाप-भार वे लेते हैं। वस्तुतः भगवान ही गुरु रूप से उसका भार ग्रहण करते हैं और उसका उद्धार करते हैं।

---

१६७. फिर भी शिष्य के कुछ पाप गुरु में प्रविष्ट होते हैं यह ठीक है। क्योंकि प्राय: देखा जाता है, निर्विचार-पूर्वक बहुतों को मन्त्रदीक्षा देने से सद्गुरु के निष्पाप शरीर को भी कठिन रोग आक्रान्त कर उनकी आयु क्षय करते हैं। स्वार्थशून्य, परम कारुणिक सद्गुरु जानबूझकर, पर-हित के लिए, उन्हें भगवान की ओर ले जाने की प्रेरणावश खुद के शरीर की कोई भी चिन्ता नहीं करते, शिष्यों के कल्याण के लिए अपने जीवन का तिल तिल दान करते हैं। अवतार अन्यों का पाप-भार ग्रहण करते हैं, उन्हें भी इसी-लिए रोगों को भोगना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "गिरीश के पापों को लेकर ही मेरे शरीर में यह व्याधि (Cancer--गले में क्षतरोग) हुई।"

---

१६८. शरीर की तो बात ही तुच्छ है, सद्गुरु तो अपना, आजीवन कठोर तपस्या से प्राप्त अमूल्य पारमार्थिक धन भी शिष्य को बिना किसी हिचकिचाहट के, कुछ भी प्रतिदान की आशा न रखकर, सम्पूर्णत: दे देते हैं। शिष्य यदि शुद्धसत्त्व और यथार्थ भगवत्प्रेमी हो तो वह गुरु के आध्यात्मिक शक्तिसंचार को भीतर ही भीतर अपने प्राणों में अनुभव कर सकता है। अथवा श्रद्धा और विश्वास के साथ गुरूपदिष्ट साधन-पथ पर वह जितना ही आगे बढ़ता है और उसका चित्त जितना ही निर्मल होता जाता है, उतना ही वह गुरुशक्ति के खेल को और उनकी कृपा को अपने हृदय में अनुभव कर सकता है। गुरुकृपा और शिष्य

के अथक परिश्रम के सम्मिलन से सिद्धिलाभ होता है ।

---

१६९. मानवजीवन का ध्येय है भगवत्प्राप्ति, इसे कभी भी न भूलना । पशुओं के समान आहार, निद्रा और इन्द्रियसुखों की चेष्टा और गपशप, पर-चर्चा और व्यर्थ के कामों में ही आयुक्षय करने से, तुम्हारा जीवन ही वृथा नष्ट हो जायगा और अनन्त दु:खभोग ही सार रहेगा । जब तक तुम्हारे शरीर और मन में बलवीर्य है, अपनी सारी ताकत लगाकर, ईश्वरप्राप्ति के निमित्त सजग होकर जुट पड़ो । किसी तरह भी प्रयत्नों में ढिलाई न करो । बाद में करेंगे, या भगवान की जब इच्छा और कृपा होगी तब ही सम्भव होगा--ये सब महा अकर्मण्य और आलसियों की बातें हैं जिन्हें कुछ करने की आन्तरिक इच्छा नहीं है । उनका कभी भी कुछ नहीं होगा ।

---

१७०. सोलह से तीस वर्ष की उम्र तक ही, जीवन का सब से अच्छा समय है, जब शरीर में पूर्ण क्रियाशक्ति और मन में उत्साह, उद्यम, साहस, आत्मविश्वास, दृढ़ संकल्प और इच्छाशक्ति प्रभृति अभीष्टलाभ के निमित्त उपयोगी गुण स्वयं ही विद्यमान रहते हैं । तुम क्या सोचते हो कि जीवन के इस अमूल्य समय को व्यर्थ के कामों में नष्ट कर वृद्धावस्था में साधनभजन में मन लगाओगे ? व्यर्थ की आशा है यह ! यह केवल अपने आपको धोखा ही देना है । तब, यदि मन में इच्छा भी रहे, तो देखोगे कि शरीर उस इच्छा का वहन

नहीं करता,अनेक कठिन रोग और व्याधियों से घिर जाओगे, रोगों की यन्त्रणा से अस्थिर हो उठोगे, साधारण थोड़े परिश्रम से ही थक जाओगे और सब क्रम बिगड़ जायगा, आलस्य और तन्द्रा आने लगेगी । व्यर्थतापूर्ण, असहाय, और पर-मुखापेक्षी जीवन असहनीय हो जायगा । और शरीर भी यदि कुछ सबल रहा, तो भी जीवनभर के संस्कार और अभ्यास तथा स्त्री-पुत्रों पर की माया, ऐसी दृढता से तुम्हें जकड़कर बाँध रखेंगे कि परमेश्वर का ध्यान और उन्हें पाने के लिए आन्तरिक प्रयत्नों में मन ही नहीं लगेगा, उसे लगा ही नहीं सकोगे । इसके अलावा, जीवन आज है तो कल नहीं । कौन कह सकता है कि मैं वृद्धावस्था तक जीवित रहूँगा और तब मुझे मौका मिलेगा ? जो करने का है अभी कर लो, कल के लिए छोड़ने पर वह "कल" किसी काल में भी नहीं आयगा ।

---

१७१. साधकों को अपने जीवन में इन कुछ गुणों और नियमों का अभ्यास करना नितान्त जरूरी है :—

(१) ईश्वर पर दृढ़ विश्वास और निर्भरता ।

(२) ब्रह्मचर्यपालन—इन्द्रियनिग्रह अर्थात् काम-संकल्पत्याग । इन्द्रियग्राह्य विषयों की असारता और उनके दोषों को सोचकर उनमें अनासक्त और वितृष्ण होना चाहिए, वैराग्यवान होना चाहिए । वीर्यधारण के सिवा शरीर, मन और बुद्धि का पूर्ण विकास असम्भव है । बारह वर्ष ठीक ठीक ब्रह्मचर्य पालन करने से मेधा नाम की एक सूक्ष्म नाड़ी की

सृष्टि होती है, जिससे धारणाशक्ति और सूक्ष्म विषयों को आयत्त करने की शक्ति का स्फुरण होता है। तब स्वास्थ्य अटूट हो जाता है, देह और मुख पर दिव्य कान्ति और मन में अदम्य तेज प्रकट हो जाते हैं। क्रियाशक्ति और प्रतिभा साधारण लोगों की अपेक्षा कितने ही गुनी ज्यादा हो जाती है।

(३) आहार-विहार में संयम और नियमवर्तिता। खाद्य अनुत्तेजक, बलदायी और सहजपाच्य होना चाहिए। लोभ-त्याग करना होगा। आहार का उद्देश्य वासना-तृप्ति करना नहीं है, शरीर को स्वस्थ और कार्यक्षम रखना है। खुली वायु का सेवन, और हलके व्यायाम का अभ्यास हितकर है! भग्नस्वास्थ्य, दुर्बल, निद्रालु, अलस और यथेच्छाचारी व्यक्ति के द्वारा कोई भी काम नहीं होता; महत् कार्य की तो बात ही दूर है।

(४) कुसंग, असत्-प्रसंग, परचर्चा, व्यर्थ कामों में समय नष्ट करना, इनसे बचकर चलना चाहिए। सत्संग, शास्त्रपाठ, सत् चिन्ता और सदसत् विचार करना चाहिए।

(५) जीवन के उद्देश्य और आदर्श की ओर सदा लक्ष्य रहे, और उसकी सिद्धि के लिए मनसा-वाचा-कर्मणा पूरा यत्न करना चाहिए, असीम धैर्य और अध्यवसायपूर्वक साधनभजन करना चाहिए, किसी भी कारण से मन में निराशा और अवसाद को नहीं आने देना चाहिए। निज की सुख-स्वाधीनता को तुच्छ गिनकर फलाकांक्षा का त्याग करके, भगवान को ही एकमात्र अपना और सर्वस्व समझकर मन:प्राणपूर्वक उनका भजन करने से परम आनन्द और

शान्ति के अधिकारी हो जाओगे ।

---

१७२. साधक का सारा जीवन ही एक लगातार साधनाविशेष है--प्रतिदिन नियत समय पर एक-दो घण्टे जपतप निपटाकर, बाकी समय विषय-कर्मों में डूबे रहना नहीं ! उससे कभी भी जीवन-गठन नहीं होता। धर्मभाव जब जीवन के प्रत्येक कार्य, विचार और अवस्था में से प्रस्फुटित होने लगे, जब वह मज्जागत हो जाय, तब ही उस व्यक्ति को धार्मिक कहा जा सकता है। हाथ से काम करो, मुँह से पाँच आदमियों के साथ कामकाज की बात करो, पर मन को ईश्वर में लगाये रखो, जानकर रखो कि असल है अन्तिम वस्तु ही--जिसके लिए यह शरीर-धारण और सभी कुछ है । इसका उपाय है निरभिमानता, स्वार्थत्याग, निर्लिप्तता और भगवान ही एकमात्र सार और सत्य हैं यह ज्ञान। कठिन जरूर है पर अभ्यास से क्रमशः हो जाता है जरूर। श्रीरामकृष्ण जैसे धान कूटनेवालों का दृष्टान्त देते थे । गाँव की स्त्रियाँ धान कूटते समय बालक को इधर दूध भी पिलाती हैं, खरीददारों से उधर लेनदेन का हिसाब तथा चीजों के दर के बारे में बातचीत भी कर लेती हैं, पर उनका मन है ढेंकी के मूसल की ओर, वह कहीं हाथ पर न गिरने पावे ।

---

१७३. प्रथम प्रथम नियम बनाकर जपध्यान करना पड़ता है । मन स्वभावतः ही काम करने या परिश्रम करने में नाराजी जाहिर करता है, काम को पूरा ही उड़ा देने या

न करना पड़े इसका केवल बहाना ही ढूँढ़ता रहता है। जिस काम में उसे लगाना चाहो, उसे न करके वह अन्य दिशा में भागना शुरू करेगा और उधर ही घूमता रहेगा! यदि किसी भी काम में न लगाओ तो दुनिया भर के सब बुरे काम और अर्थहीन काम करेगा। कहावत है कि 'आलसी मन सैतान का कारखाना है'; यह खूब सत्य है। उसे वश में करने के लिए, दृढ़ता से नियम के बन्धन में उसे बाँधना पड़ेगा। सोचविचार कर ऐसी एक 'रूटीन' (कार्यक्रम) बना लो जिसका पालन करना साध्य हो। और दृढ़ संकल्प कर लो कि चाहे जिस अवस्था में तुम क्यों न पड़ो, दूसरा कोई भी काम चाहे क्यों न आ जाय, जो नियम बना लिया है उसका पालन किसी भी तरह करना ही होगा। इस तरह की निष्ठा और जोर चाहिए। आहार-विहार, लिखना-पढ़ना, व्यायाम-निद्रा, कामकाज, ध्यानभजन, यहाँ तक कि आमोद-प्रमोद, खेलकूद, सब कामों का ही एक निर्दिष्ट समय रहे। मन चाहे वैसे अनियमित दिन बिताने से जीवन वृथा ही नष्ट हो जायगा। 'रूटीन' बनाकर, मन को दृढ़ता से शासन करके कहो, "तुम चाहो या न चाहो, तुम्हें इन सब नियमों को मानकर चलना पड़ेगा।" कुछ दिन मन बाँकी चाल चलेगा, किसी भी शासन को मानने के लिए राजी न होगा, इधर उधर भाग जायगा। पर, तुम कुछ भी हो उसका पीछा छोड़ना ही नहीं, उसे बलपूर्वक पकड़ लाकर काम में लगाओ, साथ साथ उसे समझाओ। हिंसक जन्तु को वश में करना और मन को वश में करना एक ही जैसा है। असीम धैर्य,

अध्यवसाय और इच्छाशक्ति चाहिए। वह जब देखेगा कि बाबा किसी भी तरह छुटकारा नहीं है, तब वह अपनी बहानेबाजी और वक्रता छोड़ देगा; भला आदमी होकर, जो कहोगे वही करेगा। इसको कहते हैं अभ्यासयोग। समझ रखो इसे छोड़कर मन को वश में लाने का अन्य उपाय नहीं है।

---

१७४. औषध निगलने के समान इस तरह का अभ्यास-योग यदि तीन चार वर्ष बराबर कर सको, वह चाहे हजार शुष्क, कठिन और अलोना क्यों न लगे,—तब देखोगे कि ध्यानभजन करना कितना मधुर है, अमृत के समान और आनन्दप्रदायक। कालेज की एक एक परीक्षा पास करने के लिए विद्यार्थी लोग रात-रातभर जागकर शरीर नष्ट कर डालते हैं, स्वास्थ्य खोकर कितना घोर श्रम करना पड़ता है? ऊपर से डर, फिकर और चिन्ता तो है ही; पास होना मानो एक प्राणान्तक दुर्घटना से बच जाना—मानो जीवन-मरण सब पास होने पर ही निर्भर हो! और यह सब किस-लिए करना पड़ता है—बड़ी नौकरी मिलेगी, धन पैदा करूँगा, मानयश होगा, सुख से रहूँगा—इन सब अनिश्चित आशाओं के कारण! ईश्वरप्राप्ति इसकी अपेक्षा, एक हिसाब से बहुत ज्यादा सरल है, क्योंकि इसमें ऐसे भय और दुश्चिन्ता के लिए कोई मौका नहीं है, कारण साधना होने से सिद्धि अनिवार्य है। ईश्वर को पाने के लिए यदि कोई सब काम छोड़कर "मन्त्रसाधन, या शरीरपतन" यह प्रण करके लगातार साधना में संलग्न हो जाय तो वे उसे निश्चय ही

दर्शन देंगे और ऐसे अमूल्य धन से धनी कर देंगे, जिसके सामने संसार की सम्पूर्ण धन-सम्पद और सुख तुच्छ मालूम होगा। वह मृत्यु को अतिक्रम करके अमृतत्व का अधिकारी बन जायगा।

---

१७५. महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द) कहते थे, "दीक्षा लेकर कुछ दिन जपध्यान करके शिष्य जब आकर मुझे कहते हैं—'क्या, कुछ भी तो होता नहीं, मन को किसी भी तरह वश में नहीं कर पाते, कुछ भी तो शान्ति या आनन्द नहीं मिलता', तब मैं कुछ उत्तर ही नहीं देता हूँ, उनकी बात ही नहीं सुनता हूँ। इसके दो तीन साल बाद वे खुद ही कहने लगते हैं, 'इतने दिनों में अब कुछ उन्नति होती मालूम होती है, कुछ आनन्द और शान्ति भी प्राप्त होती है।' इसीलिए मैं तुम लोगों से कहता हूँ, दो तीन वर्ष तक लगातार एक-सरीखे—लगे रहकर अविराम साधनभजन किये जाओ, तब आनन्द मिलेगा। तुम लोग करोगे तो कुछ नहीं, सस्ते में ही सिद्ध पुरुष बन जाना चाहते हो? यह पागलपन नहीं तो क्या है?"

---

१७६. श्रीश्रीमाँ (श्रीसारदा देवी) भी अपने बालकों के अत्याचार से काफी पीड़ित होती थीं। कहती थीं, "उस समय (श्रीरामकृष्ण के समय) के लोग सब कैसे भक्त थे! आजकल तो जो कोई भी आता है कहता है 'पिताजी के दर्शन करा दो,' 'ठाकुर के दर्शन करा दो,' 'उनके दर्शन क्यों

नहीं होते?’ ‘आप तो इच्छामात्र से करा दे सकती हैं।” कितने योगी ऋषि आदि युग-युगान्तर तपश्चर्या करके भी उन्हें प्राप्त न कर पाये, और इन लोगों का बिना कुछ किये ही झट से हो जायगा! साधन नहीं, भजन नहीं, तपस्या नहीं, और अभी दिखा दो! कितने जन्मों में क्या क्या करके आ रहे हैं; ये सब धीरे धीरे कटेगा तब तो होगा? इस जन्म में न हुआ तो अगले जन्म में होगा; या और भी आगे के जन्म में होगा। पर प्रयत्न करने से कभी न कभी तो होगा ही होगा। भगवत्प्राप्ति क्या इतनी सरल है! तो भी इस बार श्रीठाकुर (श्रीरामकृष्ण) का मार्ग काफी सरल है, इतना ही। गृहस्थी कर ली है, साल साल लड़के-लड़कियों के बाप हो रहे हैं और पूछते हैं, ‘ठाकुर दर्शन क्यों नहीं देते?’ श्रीठाकुर के पास स्त्रियाँ जाती थीं, कहती थीं, ‘ईश्वर में मन क्यों नहीं लगता? मन भी स्थिर नहीं होता!’—ऐसे ही सब। ठाकुर उन्हें कहते थे, ‘अरे अभी शरीर से प्रसूतिगृह की गन्ध नहीं गयी, पहले उसे तो छूटने दो। अभी जल्दी क्या है? धीरे धीरे होगा। इस जीवन में यही दर्शन-परसन हुआ, आगामी जन्म में होगा।’ स्वप्न वगैरह में शायद दर्शन हो जायँ। आजकल श्रीठाकुर को इन्हीं आँखों से देखना, वे अपना देहसहित दर्शन दें, यह कितनों का होता है? यह बड़े ही भाग्योदय की बात है।”

---

१७७. श्रीठाकुर कहते थे—“मैने तो सोलहों नाच नाचे हैं, तुम्हें एक नाच से ही प्राप्ति होगी।” ईश्वरप्राप्ति

के लिए श्रीठाकुर ने जो अलौकिक तीव्र साधना की थी उसका शतांश भी मनुष्य के लिए कर सकना असम्भव है। फिर भी उन्होंने कम से कम जो एक नाच नाचने को कहा है, वह तो नाचना ही पड़ेगा। सोलह नाच की तैयारी करने पर तब कहीं एक नाच बन पाता है। भगवान की ओर एक कदम बढ़ने पर वे दस कदम आगे आ जाते हैं। बाकी तो सब वे ही कर देते हैं। यही उनकी कृपा है।

---

१७८. "अहिंसा परमो धर्मः" बड़ी अच्छी बात है, पर केवल मुँह से बोल देने से ही या केवल जीवहत्या-त्याग अर्थात् मछली-मांस न खाने से ही अहिंसा नहीं हो जाती। अहिंसा उसी समय ठीक ठीक होती है जब ससस्त भूतमात्र में ईश्वरदर्शन अर्थात् आत्मानुभूति होती है। जीवनधारण का अर्थ ही है प्रतिमुहूर्त जान में या अनजान में दृश्य या अदृश्य असंख्य प्राणियों का जीवनाश या क्षति। योगी लोग दूध को सात्त्विक आहार मानकर उसे ही पीकर तपश्चर्या करते हैं। पर दूध के लिए भी तो बेचारे बछड़े को उसके स्वाभाविक निजस्व खाद्य से वंचित करना पड़ता है। यह क्या हिंसा या निष्ठुरता का कार्य नहीं है? फिर भी जानते हुए जितनी हिंसा, या दूसरों का अनिष्ट न किया जाय उतना ही श्रेष्ठ। अहिंसा का अभ्यास करने से, प्राणिमात्र पर प्रेम का उदय होता है, क्षुद्र अहं और स्वार्थबुद्धि दूर होती है, शत्रु और मित्र का भेद दूर हो जाता है; अतः चित्त शुद्ध और निर्मल होता है और ऐसे शुद्ध मन में भगवान की

पूर्ण उपलब्धि होती है ।

---

१७९. श्रीठाकुर ने कहा है—"ध्यान करो मन में, वन में, कोने में।" इससे मन सहज ही एकाग्र हो जाता है। 'कोने में' अर्थात् आड़ में, जहाँ किसी की निगाह न पड़े, एकान्त में। धर्मकर्म सब गुप्त रीति से करना उचित है, ज्यादा बोलने बताने और प्राकट्य से अनेक तरह के विघ्न उत्पन्न होते हैं। अपने भाव को छुपाकर रखना उचित है, भाव का अंकुर जमते न जमते ही उसका उच्छ्वास या उसे बाहर प्रकट कर देने से भाव नष्ट हो जाता है। अपनी भावभक्ति जितनी ही अन्तःकरण में छिपाये रख सको वह उतनी ही परिपक्व होगी, बढ़ेगी और शक्तिशाली होगी। सात्त्विक साधक इसीलिए अकेला, अन्धकार में या गम्भीर रात्रि में या मसहरी के भीतर जपध्यान करता है ताकि कोई जानने न पावे।

---

१८०. 'वन में' अर्थात् लोगों के कोलाहल से दूर, निर्जन स्थान में, जैसे हिमालय पर्वत, या गंगा आदि पवित्र नदियों के किनारे अथवा स्वास्थ्यकर और पवित्र आब-हवायुक्त प्राकृतिक सौन्दर्य के बीच में। ऐसे स्थान ही योगी लोग साधन के अनुकूल समझकर चुनते हैं, जहाँ प्रलोभन और कामिनी-कांचन का सम्पर्क न हो। वन में जाकर भी यदि संसारी भावनाओं में मग्न रहे तो वह फिर वन रहा ही नहीं, संसार को ही साथ ले जाना हुआ। मन को स्थिर

और एकाग्र कर सकने पर, बाहरी कोई भी वस्तु उसे चंचल नहीं कर सकती। ऐसे योगी के निकट यही संसाररूपी बाजार भी वन हो जाता है। बाजार में गोलमाल में भी नीरवता का वह अनुभव करता है।

---

१८१. 'मन में' ध्यान ही असल बात है। ध्यान चाहे जहाँ ही क्यों न करो, मन में, अर्थात् हृदय के अन्तर के भी अन्तर में इष्ट की प्रतिष्ठा करके, उनमें ही सारे मन या अहं-बोध को एकाग्र करने के लिए, इन्द्रियों को संयत करके, अपनी सम्पूर्ण शक्ति का उपयोग करना चाहिए। इस तरह की चेष्टा निरन्तर करते करते, अन्तःकरण में महाशक्ति का स्फुरण होगा, जिसके द्वारा भगवान के रूप की उपलब्धि होती है। मन जितना ही विभिन्न दिशाओं में भागता फिरता रहता है उतनी ही उसकी शक्ति का ह्रास होता है, वह दुर्बल और निस्तेज हो जाता है, उसके द्वारा कोई भी बड़ा काम सिद्ध नहीं हो सकता।

---

१८२. ध्यान आँख मूँदकर अन्धकार में करो, खिड़कियाँ खुली रखो, घर की हवा रुकी हुई न रहे। धोती-कुरता आदि ढीले रखो। श्रीठाकुर अपने किसी किसी अन्तरंग त्यागी भक्त को, शिशुभाव और बन्धनमुक्त भाव लाने के लिए नग्न होकर ध्यान करने के लिए कहते थे।

---

१८३. ध्यान के समय इष्ट के अधिष्ठान हृदय को,

जिसे, जिस तरह से सोचना अच्छा लगे, वह उसी तरह से सोच सकता है। जैसे हृदय-आसन, हृदय-कमल, हृदयकन्दर (गुहा), हृदयमन्दिर, हृदयाकाश, हृदयकोष, हृदयकेन्द्र, हृदय-निकेतन, हृदयकुटीर, हृदयकुंज, हृदयसिंहासन, और भी जितनी तरह की कल्पनाएँ भक्त के मन में उदय हो सकें। हृदय माने अन्तःकरण का अन्तरतम स्थान, जहाँ अपने प्रियतम को रखने के लिए जी चाहता है। हृदय में ध्यान न कर सकने पर पहले पहले इष्ट को फोटो, चित्र या मूर्ति की सहायता से सामने रखकर भी ध्यान किया जा सकता है, पर यह बाह्य है।

---

१८४. ध्यान के लिए प्रशस्त समय--(१) दिन और रात्रि का सन्धिक्षण अर्थात् ठीक सुबह और सायंकाल, (२) ब्राह्ममुहूर्त अर्थात् रात्रि का अन्तिम भाग, सूर्योदय से एक घण्टे करीब पहले, (३) मध्यरात्रि। इन सब समयों में प्रकृति स्थिर, शान्त और गम्भीर रहती है। इन्हीं समयों में साधारणतः मेरुदण्ड के भीतर जो सुषुम्ना नाड़ी है वह कार्यकरी होती है और उसके फलस्वरूप श्वासोच्छ्वास नाक के दोनों नथुनों से होता है। साधारणतः, उसके दोनों और जो इड़ा और पिंगला नाड़ियाँ हैं, उनमें से एक की क्रिया होती है और दाहिने या बायें नथुने से ही श्वास-प्रश्वास आता-जाता है, इसी से मन चंचल होता है। अनेक योगी इसीलिए ख्याल रखते हैं कि कब सुषुम्ना की क्रिया हो रही है, और उसके मालूम होते ही वे सब काम छोड़कर

ध्यान करने बैठते हैं।

---

१८५. साधक को कभी कभी ऐसा हो जाता है कि मन एक ही विचार में फँस जाता है--सरस नये भाव आते ही नहीं, जपध्यान अच्छा नहीं लगता, या कुचिन्ता और कुप्रवृत्ति की ओर मन की प्रबल गति हो जाती है, प्रयत्न करके भी वह किसी प्रकार भी सम्हलता नहीं। इस तरह यदि चलता रहे तो साधुसंग ही उसका एकमात्र उपाय है। उनके पवित्र संस्पर्श में आकर,--उनके दर्शन, स्पर्शन और सेवादि से--उनका सत्त्व और भगवद्भाव अन्तर में संचरित होता है और प्रेरणा ला देता है, मन का मैल कट जाता है। और नये उत्साह से आगे बढ़ना सम्भव हो जाता है। साधुसंग का उपाय न हो तो, सत्शास्त्र-पाठ, सत्-आलोचना, व्याकुल अन्तःकरण से ईश्वर के पास प्रार्थना, अच्छा लगे या न लगे उनका नाम-जप मैं करता ही जाऊँगा ऐसा दृढ़ संकल्प और जोर मन में लाना चाहिए। तब देखोगे, भूत भाग जायगा। मन की घोर तमोनिशा कट जायगी।

---

१८६ मन को सब समय ही किसी न किसी काम में लगाये रखो,कभी भी बेकार न बैठने दो, उसे खाली छोड़ते ही वह बदमाशी करेगा और तुम्हें सन्तप्त करेगा। जब मन बिलकुल ही खराब हो जाय या किसी प्रलोभन और मानसिक उत्तेजना को प्रयत्न करके भी हटाने में तुम असमर्थ होते हो, ऐसा मालूम पड़े तब उस जगह ही से हट जाओ,

उस प्रतिकूल आबहवा में से बाहर निकल आओ । खुले मैदान की मुक्त पवन में तेजी से ३-४ मील घूम आओ। इतने से ही वह अधोगामी भाव दूर हो जायगा, कम से कम उतने समय के लिए । प्रलोभन से बचने के दो ही उपाय हैं— या तो युद्ध या पलायन । पर मन से भागकर कहीं अकेले रह भी तो नहीं सकते; या तो उसको वश में ही करना होगा या उसके इशारे से उठना-बैठना होगा ।

---

१८७. काष्ठ की अन्तर्निहित अग्नि जैसे घर्षण द्वारा, दूध का मक्खन जैसे मन्थन के द्वारा, तिल का तेल जैसे पेरने से, मिट्टी के नीचे का जल जैसे खोदने से प्राप्त होता है, उसी तरह जीव की हृदयगुहा में निहित उसका स्वरूप जो परमात्मा है, वह भी प्राणपणपूर्वक तपस्या और एकाग्रता से प्राप्त होता है ।

---

१८८. ध्यानजप, साधन की प्रथमावस्था में, क्रमशः धीरे धीरे बढ़ाना चाहिए । आज यदि आधा घण्टा या ४५ मिनट करो तो कुछ दिन के बाद एक घण्टा, बाद में डेढ़ घण्टा, दो घण्टा, इस तरह से हो सके उतना करो । हठात् आग्रहातिशय्य से या मन की उत्तेजना से, बलपूर्वक अपनी सामर्थ्य से अधिक करने पर, बाद में खुद को ही भोगना पड़ता है। इसकी प्रतिक्रिया इतनी भीषण होती है कि उसे सह्य करना महा कठिन हो जाता है । फलस्वरूप स्नायविक दुर्बलता या अवसाद इतना अधिक आता है कि जपध्यान करने की शक्ति

और इच्छा तक चली जाती है, मस्तिष्क जैसे बिलकुल खाली खाली मालूम पड़ने लगता है। पूर्वावस्था प्राप्त करने में काफी समय लगता और कष्टप्राप्ति होती है; यहाँ तक कि मस्तिष्क-विकार भी हो सकता है। कूदकर एकबारगी ही छत पर नहीं चढ़ा जाता, उससे गिरकर हाथ-पैर टूट जाते हैं। छत पर चढ़ने के लिए, कदम कदम सीढ़ी पर से चढ़ना पड़ता है।

---

१८९. जो ध्यान जप या योगाभ्यास अधिक करते हैं, उनका नूतन सात्त्विक शरीर गठित हो जाता है, सूक्ष्म स्नायु-जाल और नाड़ीचक्रों की रचना होती है, जो गहरे अतीन्द्रिय भावों के वेग को सह सकने में समर्थ होते हैं।

---

१९०. संन्यासियों को एक ही जगह ठहरकर किसी अन्नसत्र से भिक्षा लेना मना है। गृही लोग, श्राद्ध में पितृपुरुषों के कल्याण के लिए या खुद के पापक्षय और पुण्यसंचय के उद्देश्य से और अनेक लौकिक कामनाओं के साथ साधुसेवा के लिए सत्रों में पैसा दान करते हैं, इसलिए वहाँ का अन्न दूषित होता है, मन को मलिन और अधोगामी करता है। इसीलिए साधु को सत्रों में खाना निषिद्ध है। साधु के लिए माधुकरी ही श्रेष्ठ है, माधुकरी का अन्न पवित्र है।

---

१९१. यथोचित साधन-भजन यदि न किया जाय तो

गृहस्थियों से दान लेने का हक साधुओं को नहीं है । उससे गृहस्थियों को धोखा देना होता है और स्वयं के साधुत्व का अयथात्व सिद्ध होता है । गृही लोग यही सोचकर साधु-सेवा करते हैं कि साधुओं को अन्नवस्त्र के लिए चिन्तित न होना पड़े और वे अपना कुल समय साधन-भजन में लगा सकें । वे लोग अपने इस सत्कर्म के कारण साधुओं के धर्म-कर्म के पुण्यफल के कुछ अंशों में हिस्सेदार हो जाते हैं । इसीलिए साधुओं के लिए इतना पुण्यफल संचित करना आवश्यक है कि जिससे दाताओं का प्राप्य अंश निकल जाने पर भी खुद के लिए यथेष्ट बचा रहे, नहीं तो देनदार होने से खुद की ही महाक्षति होती है । लौकिक और पारलौकिक कर्जदारों के दु:खों का अन्त ही नहीं, उन्हें सदा ही अभाव रहता है । इसीलिए वैराग्यवान् साधु और श्रीठाकुर के पिता के समान नैष्ठिक धर्मप्राण ब्राह्मण, प्रतिग्रह नहीं करते । इसके अलावा चीजें ग्रहण करने से ही, बाध्य-बाधकता आती है और खुद की स्वाधीनता नष्ट होती है ।

---

१९२. इसी जीवन में ईश्वर को प्राप्त करने के लिए लोग बाप, माँ और परिवार के लोगों के प्रति अपने कर्तव्य और उत्तरदायित्व को हटाकर, संसार-त्याग करके ब्रह्मचारी और संन्यासी होते हैं । इसलिए वे लोग भी इनके साधन-भजन में, कुछ अंशों में भागी होते हैं । इसलिए कहा गया है, "कुलं पवित्रं, जननी कृतार्था" । उसी से सन्तान

का पितृमातृऋणशोधन होता है। परन्तु माँ-बाप को रुलाकर, संन्यासी यदि आदर्श से विच्युत हो, अकार्य या वृथा कार्य में अपने दिन बिताये, तो उनके अश्रुजल में उसकी सारी सुकृति डूब जाती है। उसका प्रायश्चित्त होता है संसार में लौट जाना और उसी आश्रम का धर्मपालन करना।

---

१९३. ईश्वरप्राप्ति से ही बालक गोपाल के दुग्धपात्र के समान स्वयं का परमार्थ-भण्डार अक्षय हो जाता है। उससे कोई कितना ही ले, किसी को कितना ही क्यों न देते रहो, वह सदा पूर्ण रहता है, कम-ज्यादा नहीं होता। यह किस्सा जानते हो तो? एक दुःखिनी ब्राह्मणी के छोटेसे लड़के गोपाल को, रोज एक जंगल में से होकर अकेले पाठशाला में जाना पड़ता था। उसे बड़ा डर लगता था, इसीलिए माँ से कहने पर माँ ने कहा, "क्यों बेटा, डर की बात क्या है? वन में तुम्हारे बड़े भाई मधुसूदन हैं, उनको पुकारते ही वे आ जायँगे।" सरलहृदय बालक ने उसी पर विश्वास कर लिया और वन में डर लगते ही वह, "कहाँ हो दादा मधुसूदन" कहकर रोने लगता। उसी समय वन के भीतर से एक सौम्यदर्शन छोटा लड़का बाहर आकर कहता, "मैं यहीं तो हूँ, क्या डर है?" और उसके साथ बातचीत करते करते उसे जंगल के पार कर आता। कुछ दिन बाद पाठशाला के शिक्षक महाशय की माँ के श्राद्ध के उपलक्ष्य में सब पढ़नेवाले लड़के—जिनकी आर्थिक अवस्था अच्छी

थी——तरह तरह की सामग्रीं ले गये । पर गोपाल की माँ के पास देने लायक कुछ भी नहीं था । इसीलिए वह उदास होकर जा रहा है देखकर कारण पूछने पर मधुसूदन दादा ने उसे एक छोटासा दूध से भरा पात्र देकर कहा——तुम यह दे देना । गोपाल जब वह देने गया तो गुरुजी ने क्रुद्ध होकर उसे खूब धमकाया । पर ज्योंही बर्तन खाली करनें गये तो वह तुरन्त ही पुनः भर जाता है यह देखकर अवाक् रह गये । गोपाल के मुँह से सब हाल सुनकर उनके साथ मधुसूदन दादा को देखने के लिए उसके साथ वन में जाकर उन्हें पुकारने को कहा । गोपाल के वैसा करने पर आकाशवाणी हुई, "तुम्हारे सरल विश्वास के कारण तुम मेरा दर्शन पाते हो, पर तुम्हारे गुरुजी का मन कलुषित है, अतः वे दर्शन के अधिकारी नहीं हैं ।"

---

१९४. भगवान को जो सरल विश्वास के साथ, अन्तः-करणपूर्वक पुकारता है, उन्हें छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहता, वही उन्हें पाता है । और उन्हें पाकर फिर उसे और कुछ चाहने या पाने को रह नहीं जाता । जो इहलौकिक और पारलौकिक सुखों के लिए उन्हें पुकारते हैं, या उनसे ऐहिक वस्तु चाहते हैं, उनकी दया या इच्छा होने से, यह तो उसे मिल सकती है; पर वह उन्हें नहीं प्राप्त कर सकता ।

---

१९५. ब्रह्मचारी या संन्यासी का आदर्श से च्युत

होने का कारण है कामिनी-कांचन । काम-कांचन का मोह इतना भयंकर होता है कि महायोगी और ज्ञानियों तक को वे नीचे गिरा देते हैं । इसीलिए छोटे पौधे को बचाने के लिए जैसे आसपास बेड़ा लगा देना पड़ता है, उसी तरह ब्रह्मचारी और संन्यासी के लिए शास्त्रों में अनेक कठोर नियम हैं । तुलसीदासजी ने कहा है, "जहाँ काम तहाँ राम नहीं ।" कबीर ने कहा है जो योगी स्त्रीसंग करे वह ठग और भण्ड है । श्रीठाकुर अपने युवक-भक्तों को स्त्रियों के साथ, यहाँ तक कि भक्तिमती स्त्रियों के साथ भी मिलने से बरजते थे, कहते थे, "स्त्री-भक्त यदि (हरि नाम करते हुए) रो उठे और उस भाव में लबालब से भी अधिक पूर्ण हो सके, तो भी उसके साथ मेलमिलाप नहीं करना । उसका मन शुद्ध हो सकता है, पर तेरे मन में तो कुभाव आ सकता है ।" देखा भी गया है कि उनमें से कोई कोई जो उनका उपदेश पालन नहीं कर सके, वे उच्च अवस्था प्राप्त करके भी भावी जीवन में पतित हो गये थे ।

---

१९६. इस विषय में श्रीमाँ (सारदा देवी) का कथन तो और भी कठोर और विस्मयकारी था । स्वदीक्षित किसी बालविधवा कन्या को उन्होंने कहा था, "देखो बेटी, पुरुषजाति पर कभी विश्वास नहीं करना । दूसरे की तो बात ही नहीं, अपने बाप का भी, भाई का भी नहीं; और तो और, यदि स्वयं भगवान भी पुरुषरूप धारण करके तुम्हारे सामने आयें तो भी विश्वास मत करना ।" भाव यही है कि

जब तक देहात्मबुद्धि है, तब तक काम भी है और पतन का भय भी है । मन जब तक कच्चा है, प्रलोभन से विचलित होने की सम्भावना है ही, तब तक स्वयं को उससे, सब उपायों द्वारा, अलग रखना पड़ेगा, नहीं तो विपद अवश्यम्भावी है ।

---

१९७. काम के समान भीषण दुर्दमनीय शत्रु साधक के लिए दूसरा नहीं । आमरण अविराम संग्राम के अलावा इसके हाथ से छुटकारा नहीं । यह तो रावण ने जैसा कहा था, "मरकर भी नहिं मरे, राम, यह कैसा बैरी है !" हम लोगों के पुराण-ग्रन्थों में कितने महायोगीश्वरों की कथाएँ हैं जो सौ सौ साल कठोर तपश्चर्या करके भी अन्त में कामिनी के मोह में पड़कर ब्रह्मचर्यभ्रष्ट हुए थे । इसीलिए शास्त्रों में है साधु, ब्रह्मचारी लोग, स्त्रियों के साथ कैसा भी घनिष्ठ सम्बन्ध न रखें, और तो क्या, स्त्री के मुँह की ओर भी न देखें, उनके साथ एकान्त में वार्तालाप या हँसी-मखौल न करें, स्त्रियों के चित्र पर्यन्त न देखें । कारण यह है कि इन सब से कच्चे मन में कुप्रेरणा आ सकती है,मन में असत् भाव का संस्कार पैदा हो जाता है, और वह सूक्ष्मरीति से क्रिया करता है । ये सब कठिन नियम जनसाधारण के लिए नहीं हैं, साधु-ब्रह्मचारियों के लिए हैं; जो सर्वस्व त्याग करते हैं; योग-साधन और कठोर तपस्या से इसी जीवन में ईश्वर को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए है । उनकी श्रेणी अलग है ।

---

१९८. इसीलिए साधक-जीवन में स्त्री-पुरुषों के बीच बेरोकटोक मेल-मिलाप विष के समान परित्याज्य है। प्राचीन किंवा अर्वाचीन, जिन सब धर्मसंघों और प्रतिष्ठानों में इस बात का व्यतिक्रम हुआ है, वे सब कलुषित और अधःपतित हो गये। इसके प्रमाण हैं, बौद्ध, तान्त्रिक और वैष्णव सम्प्रदाय और पाश्चात्य जगत् में मध्ययुगीय कुछ ईसाई रोमन कैथलिक स्त्री और पुरुषों के मठ। बुद्धदेव के समय जब भिक्षुणियों (संन्यासिनियों) के लिए मठ स्थापित हुए, तभी उन्होंने कहा था कि अब बौद्ध धर्म के ध्वंस का बीजारोपण हो चुका। इतने परम दयालु चैतन्य महाप्रभु ने भी, अपनी एक अतिप्रख्यात स्त्री-भक्त के यहाँ से भिक्षा ले आने के कारण, अपने प्रिय वैराग्यसम्पन्न शिष्य छोटे हरिदास का परित्याग कर दिया था! कितनी कठोर लोकशिक्षा!

---

१९९. कामभाव को दूर करने का एकमात्र उपाय है, पुरुषों के लिए सब स्त्रियों में मातृभाव और स्त्रियों के लिए सब पुरुषों में सन्तानभाव का पोषण करना। यह भाव न रहने पर पतन की सम्भावना रहेगी ही। काम को संयत किये बिना, और ब्रह्मचर्य रक्षा हुए बिना, मन स्थिर नहीं होता, ठीक ठीक एकाग्रता और ध्यानावस्था नहीं आती, और भगवान में रागानुगा भक्ति की प्राप्ति नहीं होती।

---

२००. कच्चा मन महा मायावी होता है। वह साधक को कब, किस तरह से कुमार्ग में ले जाकर अतर्कित रूप से

मायाजाल में फँसा देगा, यह समझ पाना बड़ा कठिन है। कच्चे मन का स्वभाव ही है देह और इन्द्रियों के सुखों को ढूँढ़ते रहना; स्त्रीपुत्रपरिवार को अपना समझकर उनकी माया में मोहग्रस्त होना; धनजन, यशप्रतिष्ठा और प्रभुत्व को जीवन की एकमात्र काम्यवस्तु समझना। सुख के प्रयत्न में दुःख पाकर और पदपद पर धक्का खाकर भी उसे चैतन्य-लाभ नहीं होता। प्रतिदिन चहुँ ओर मनुष्य मर रहे हैं यह देखकर भी कच्चे मनवाला आदमी यह कभी नहीं सोचता कि उसे भी न मालूम किस क्षण सब कुछ छोड़कर चले जाना पड़ेगा। वह तो चाहता है, कैसे धोखा देकर, चालाकी से, किसी भी उपाय से अपना काम बने—उससे चाहे दूसरे को नुकसान पहुँचे, दुःख मिले, इसकी उसे परवाह नहीं, अपना सुख हुआ कि हुआ। यह संसार ही उसका सर्वस्व है।

---

२०१. कच्चा मन खदान से निकाले गये कच्चे सामान की तरह होता है. कितना ही मैल-मिट्टी, अशुद्ध मिश्रण और कूड़ा कर्कट उसमें मिला रहता है। रासायनिक उपायों से उसे धोकर, जलाकर, शुद्ध कर लेने से उसे असली सोना या उससे भी कितने ही अधिक मूल्य की वस्तु में परिणत किया जाता है, जो मनुष्य के अनेक कामों में आती है और उसकी जीवन-रक्षा में सहायक होती है। इसी तरह कच्चे मन को यदि विवेक यानी सदसत् विचार से धोकर, त्यागवैराग्य और भक्ति की अग्नि में उसकी विषयवासनाओं को जलाकर गुरुप्रदत्त परमार्थ-तत्त्व की साधना में शोधन कर लिया जाय

तो वही शुद्ध और पक्के मन में परिणत हो जाता है। नित्य-शुद्ध, सच्चिदानन्द-स्वरूप परमेश्वर, उसी शुद्ध पक्के मन से गम्य हैं।

---

२०२. मन मान लो एक तरह का फल ही है। कच्ची हालत में फल जैसे खट्टा, कसैला और बेस्वाद लगता है और खा लेने से रोग उत्पन्न करता है, किन्तु पक जाने पर कैसा सुस्वादु और उपकारी होता है, ईश्वर को भोग लगाने के काम में भी आता है, मन का भी वैसा ही है।

---

२०३. कच्चे मन के सत्त्व, रजः और तमोगुण हैं। जिनका सत्त्व है, उनमें धर्मभाव है, धर्मलाभ करने, सत्पथ पर चलने और परोपकार करने की इच्छा है; वे इसके लिए प्रयत्न भी करते हैं, किन्तु दुर्बलता के कारण, या अपने को दुर्बल और अपटु सोच लेने से वे ज्यादा दूर अग्रसर नहीं हो पाते, शीघ्र ही अवसन्न हो जाते हैं। जिन में रजः है वे संसार और विषय कर्म में इतने लिप्त रहते हैं कि वे धर्म के लिए विशेष दिमाग खर्च नहीं करते, हुआ तो धर्म का दिखावा भर करते हैं। जिनमें तमः है वे हैं दुराचारी। कैसे दूसरों का अनिष्ट करें, कैसे दूसरों का सर्वनाश करें, उन्हें यही फिकर रहती है और वे यही प्रयत्न करते हैं। वे होते हैं कामी, लोभी और पापाचारी।

---

२०४. कच्चा मन लेकर जो अपने को देश और जगत्

के कल्याण के काम में नियोजित करते हैं, या कोई संगठन स्थापित करते हैं, उनका उद्धेश्य महान् होते हुए भी उनके द्वारा संसार का हित के बजाय अहित ही विशेष होता है। अनेक घात-प्रतिघातों में, वे अपने आदर्श में अधिक समय तक अटूट रूप से नहीं टिक पाते । नाम यश प्रतिष्ठा की और दूसरों पर प्रभुत्व करने की लालसा उनकी बलवती हो जाती है । शीघ्र ही उन पर द्वेष, हिंसा, संकीर्णता और स्वार्थपरता का भूत सवार हो जाता है, जिससे सब काम विफल हो जाता है । केवल यही नहीं, वे अपने भीतर का विष जनसमाज में फैलाकर, बहुतसे सदिच्छासम्पन्न लोगों को भी कलुषित करते हैं, और सत्कर्म तथा धर्मानुष्ठान के प्रति, यहाँ तक कि धर्म के प्रति जनसाधारण में अविश्वास और अश्रद्धा के भाव पैदा करते हैं ।

---

२०५. आद्यावस्था में सत्स्वरूप अद्वितीय ब्रह्म ही थे। अकेले थे, अच्छे ही थे । न मालूम किस कुसमय में उन्होंने "बहुस्याम्"--मैं अनेक होऊँ--यह संकल्प किया, और उन्हें भी "तपस्तप्त्वा"--तपस्या करके, ध्यान लगाकर--इस संसार की सृष्टि करनी पड़ी । समस्त स्थावरजंगम जीवजन्तु आदि रचकर वे उनमें अनुप्रविष्ट हुए और एक-मात्र मनुष्य को ही विचार-बुद्धि दी । फलस्वरूप "पंचभूत के फन्दे में पड़, पूर्ण ब्रह्म भी रोवे"--यह हालत हो गयी। अब ये बुद्धिमान "अनेक" अपनी निर्बुद्धिता और अकर्मण्यता का सारा दोष और गलती उन्हीं के कन्धों पर डाल-

कर बेफिकर! किसी भी काम में खुद की गलती, या प्रयत्न के अभाव में विफल होने पर कहते हैं "उनकी इच्छा नहीं है।" और जिसे करने का उन्हें खूब चाव है, उसे कर डालकर पश्चात्ताप करना पड़े तो कहते हैं, "ईश्वरेच्छा से हुआ है"। परमेश्वर की क्या इच्छा, क्या अनिच्छा है, उन्होंने सब जानकर रख छोड़ा है! अतः वे हलके पतले मामूली प्राणी थोड़े ही हैं, वे तो सर्वज्ञ के भी मर्मज्ञ हैं! वे यह भी कहते हैं कि "विवाह करके संसारी होना ही भगवान को इष्ट है, सब के साधु हो जाने से सृष्टिरक्षा कैसे होगी?" मानो यही सोच सोचकर उन्हें रात को नींद नहीं आती! जैसे दुनिया के कुल लोगों ने साधु होने के लिए मरने की बाजी लगा दी हो!

---

२०६. हम लोग जो बात बात में "भगवान की मर्जी" कहते हैं, और ईश्वर की दुहाई देते हैं, वह सारशून्य आवाजमात्र है, जैसे छोटे छोटे बालक-बालिकाएँ कहा करते हैं, "भगवान कसम, राम दुहाई" आदि या जैसे अंग्रेज लोग कहते हैं "Thank God" (भगवान को धन्यवाद)! या "My God" (हा, भगवान)! ईश्वरेच्छा का ठीक ज्ञान उसे ही होता है और उस भाव की बात करना उसे ही शोभा देता है, जिसने सर्वतोभावेन ईश्वर को आत्मसमर्पण कर दिया है, जिसे पक्का ज्ञान है––"मैं यन्त्र हूँ और वे यन्त्री हैं," जिसके लिए खुद का अच्छा-बुरा, अपनी इच्छा-अनिच्छा कुछ भी नहीं बची और जो निन्दा-स्तुति,

लाभ-नुकसान, सुख-दुःख सब में समभावापन्न है।

---

२०७. वेद कहते हैं, जो पूर्ण है वह त्रिकाल में सदा ही पूर्ण है; उसमें कमीबेशी, क्षयवृद्धि नहीं। पूर्ण से पूर्ण निकालने पर पूर्ण ही शेष रहता है, पूर्ण में पूर्ण का योग करने पर भी वही पूर्ण रहता है। यह पूर्ण है एकमात्र पूर्णब्रह्म परमात्मा। पूर्ण के विनिमय से ही पूर्णत्व लाभ होता है। पूर्णस्वरूप परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए शरीर का सम्पूर्ण सामर्थ्य और सम्पूर्ण मन प्राण अन्तःकरण को नियोजित करके, उनमें तन्मय होकर साधन-भजन करने पर ही अभीष्ट सिद्ध होता है।

---

२०८. पर सब का शक्ति-सामर्थ्य एक जैसा नहीं है, व्यक्तिभेद से इसमें तारतम्य है। एक महा दृढ़शरीरी, बलिष्ठ, मेधावी युवक, संसार का सारा सम्पर्क त्याग करके दिन में एकबार साधारण भिक्षान्न या आपरूप प्राप्त फलमूलादि खाकर निर्जनस्थान में सदा मनःसंयम और चित्तवृत्ति-निरोध की चेष्टा करता हुआ योगाभ्यास करता है; उसके लिए भगवत्प्राप्ति या समाधि सरल हो सकती है। पर एक दूसरा मुमुक्षु प्रबल आन्तरिक आग्रह के रहते हुए भी, क्रमागत अनेक विषम और प्रतिकूल अवस्थाओं के बीच, हड्डीतोड़ परिश्रम करते हुए संसार में अपने असहाय वृद्ध मातापिता की सेवा और स्त्री तथा लड़के-बच्चों के प्रतिपालन में व्यस्त है। और एक दूसरा भक्त है जो दीर्घ-

काल से कठिन रोगाक्रान्त होकर शय्यागत असहाय है, उसका शरीर औ‹ मन अवसन्न है, यथायोग्य साधन-भजन करने में अक्षम है। इन लोगों के लिए क्या कोई उपाय न होगा? वे क्या अनन्तकाल तक कार्यकारणरूपी समुद्र में तूफान के समय पड़ी हुई छोटी नौका के समान पछाड़ खाते पड़े रहेंगे--उनके उद्धार की क्या कोई आशा नहीं है। वे क्या प्रारब्धवश, निर्मम कार्यकारण के चक्र में कीड़े-मकोड़े के समान पिस जायँगे? नहीं, करुणामय भगवान के राजत्व में यह कभी नहीं हो सकेगा। उनका हृदयविदारक आर्तनाद उनके कानों में पहुँचेगा ही, और वे अपने प्राण प्राण में आशा और सान्त्वना की वाणी अवश्य ही सुन पायेंगे। उनकी आसपास की परिस्थिति कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, उनकी मुक्ति की आकांक्षा यदि गहरी और प्रबल हुई और अपनी असमर्थता जानकर वे व्याकुल हृदय से भगवान के शरणापन्न हों, और भगवान का ही संसार है समझकर कर्तव्य-बुद्धि से सब काम निर्लिप्त भाव से करते चले जायँ, किसी भी काम में या किसी की भी मायाममता में बद्ध न हों, ईश्वर को छोड़कर अन्य किसी को भी अन्तर से प्रेम न करें, तो वे भी कपालमोचन प्रेममय प्रभु की अपार कृपा से इसी जीवन में शान्ति के अधिकारी होते हैं और अन्त में परमपद लाभ करते हैं।

---

२०९. सभी कुछ मन का खेल है, मन के ऊपर ही सब निर्भर है। मन में ही बन्धन हैं, मन में ही मुक्ति।

जैसी मति, वैसी गति । उपर्युक्त योगी सब प्रकार की अनुकूल अवस्था में कठोर तपस्या करके भी अपनी अन्त. र्निहित वासना के वशीभूत होकर विषयसुख और नाम-यश के प्रति यदि आकृष्ट हो तो उसका सारा साधनभजन और तपस्या भस्म में घृताहुति के समान वृथा परिश्रम ही है । और त्रितापदग्ध जीव संसार की असारता को अपने अस्थि-मांस तक में अनुभव करके, वीतराग होकर, समस्त मन-प्राणपूर्वक यदि परमेश्वर का शरणागत हो तो वे उसे इस जन्ममृत्युरूपी दुःख से बचा लेते हैं ।

---

२१०. चाहे संन्यासी होओ या गृही, अपने अपने मार्ग से सब को प्राणपण से परिश्रम करना पड़ेगा, जीवन को साधना के अनुरूप बना लेना पड़ेगा । धोखा और चालबाजी से वस्तुप्राप्ति नहीं होती; इससे स्वयं को ही गड्ढे में गिरना पड़ता है । फिर भी मालूम पड़ता है भगवान की कृपादृष्टि संन्यासियों की अपेक्षा गृही भक्तों पर कुछ विशेष रहती है, क्योंकि संन्यासी लोग तो भगवान का नाम लेने के लिए ही सब छोड़-छाड़कर आये हैं, वे यदि उन्हें न पुकारें तो वह अवश्य ही महापाप है । पर निष्ठावान गृही भक्त लोग कठोर संसारमार्ग में सिर पर विषम भारी बोझ लादे हुए भी उनका स्मरण-मनन और उनकी कृपायाचना करते हैं, साधुभक्तों में श्रद्धा-भक्ति और उनकी सेवा करते हैं एवं धार्मिक धनी लोग दानध्यान और दरिद्र तथा साधुओं के लिए आतुराश्रम-सेवाश्रम-धर्मशाला एवं अन्नसत्र आदि की

स्थापना इत्यादि नाना पुण्य कर्म करते हैं।

---

२११. ईश्वरप्राप्ति सब के भाग्य में इसी जन्म में नहीं होती, जो जन्म-जन्मान्तर से उन्हें पाने के लिए कठोर तपस्या और साधनभजन करते चले आ रहे हैं, साधारणसा कुछ कर्म बाकी रहा था, वे उस पूर्व जन्म की साधना के प्रभाव से सत्संस्कार और प्रेरणा प्राप्त करके, इस जन्म में साधना के अनुकूल अवस्था प्राप्त कर, उस बचे हुए कार्य को सहज ही पूरा कर डालते हैं और जन्म-मरणहीन परमपद में लीन होते हैं।

---

२१२. कोई भी कर्म व्यर्थ नहीं जाता, नष्ट नहीं होता। उसका कुफल या सुफल कभी न कभी प्रतिफलित होगा ही। इसीलिए जो भी सत्कर्म हों उन्हें सब तरह से सब अवस्थाओं में करना चाहिए। और पूर्वकृत कुकर्म और पापराशि का ऋण शोध करने के लिए यही मूलधर्म हो जाता है।

---

२१३. सत्कर्मों का फल अक्षय होता है। जितना अधिक उसका संचय किया जाय, भविष्य में, इस जन्म में या अगले जन्म में, विपत्ति और दुःखशोक नाना घात-प्रतिघात, भयप्रलोभन, अन्धकार तथा निराशा के समय वह बड़े काम में आता है, दूसरी सब सम्पत्ति क्षणस्थायी है, उसके पैदा करने में दुःख, रक्षा करने में दुःख, और नष्ट

होने में भी दुःख; उसे साथ लेकर भी नहीं जा सकते। इतना ही नहीं, पुनः तत्सम्बन्धी सब अतृप्त दबी हुई वासनाएँ संस्कार रूप से साथ जाकर परजन्म में बलपूर्वक नये कर्मफल में जड़ित कर और नये नये बन्धनों में डालकर अशेष दुःख देती हैं।

---

२१४. श्रीरामकृष्ण कहते थे, संसारबद्ध जीव कच्ची सुपारी या नारियल के समान होते हैं,––उसका भीतरी सार अंश ऊपरी छिलके के साथ ऐसी दृढ़ता से चिपटकर एक हो जाता है कि उसे सरलता से अलग नहीं कर सकते; पर उनके पककर सूखा हो आने पर, वे सहज ही अलग हो जाते हैं। इसी तरह जब तक देह में आत्मबुद्धि है, शरीर के सुख-दुःख से जब तक अपने को सुखी-दुःखी माना जाता है, तब तक माया से बद्ध होकर, अविराम त्रितापों से दग्ध होना ही पड़ेगा। ज्ञान, भक्ति या कर्मयोग के अनुष्ठान से भगवत्कृपा से जब देह, इन्द्रिय आदि से आत्मा पृथक् मालूम पड़ने लगती है और अखण्ड सत्स्वरूप नित्यशुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव रूप से अनुभव में आती है, तभी जीव मुक्त होता है।

---

२१५. कर्मयोग के द्वारा चित्तशुद्धि होती है, आत्म-ज्ञान होता है। कर्म तो हम सभी करते हैं, किन्तु कर्मयोग की साधना नहीं करते, इसीलिए कर्मों में बद्ध होते हैं और दुःख भोग करते हैं। कर्मयोग के सम्बन्ध में भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, कर्म करने में ही तुम्हारा अधिकार है,

कर्मफल में नहीं, और "कृपणाः फलहेतवः"—जो फल के लिए कर्म करते हैं वे दीन दुर्बल और निम्न श्रेणी के लोग हैं। कर्म करो, किन्तु जो भी काम करो उसे निःस्वार्थ भाव से, निर्लिप्त और निष्काम भाव से करो; इस तरह करने से समस्त कर्म-बन्धनों से मुक्त हो जाओगे, सुख-दुःखों से अतीत परमानन्द को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाओगे।

---

२१६. बहुतों की धारणा है कि यदि निष्काम होकर कर्म किया जाय तो फिर कर्म करने के लिए प्रेरणा या आकर्षण कैसे प्राप्त होगा? सारा मन लगाकर कर्म करने में ही कैसे मतवाला हो उठूँगा? यदि खुद का कोई फायदा ही नहीं तो कर्म करने ही क्यों जाऊँ? यह धारणा बहुत ही गलत है। सुख के ही लिए तो लोग कर्म करते हैं, किन्तु सुख मिलता है कितना? नौ भाग दुःख और शायद एक भाग या और भी कम सुख—वह भी पुनः अस्थायी और दुःख के मेल से मिश्रित। और प्रायः अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को वंचित और दुःखी करना पड़ता है, पराया अनिष्ट करना पड़ता है। संसार में जो कुछ भी चिरस्थायी सुख है वह केवलमात्र निर्लिप्त, कर्तृत्वबोधरहित, निःस्वार्थ कर्मियों द्वारा ही निष्पन्न होता है। सारे इतिहास में श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा, श्रीचैतन्य और आधुनिक काल में श्रीरामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के समान अक्लान्त कर्मी कितने हुए हैं? वे ही आदर्श पुरुष हैं, जिन्होंने प्राचीनतम समय से लेकर अब तक असंख्य नरनारियों को जीवन का दुःसह भार

सहन करने में समर्थ बनाया है, पापपंक में डूबे हुए, अज्ञानान्धकार से आच्छन्न, त्रितापदग्ध जीवों के प्राणों में आशा और शान्ति का संचार किया है। उनके उपदेश और आदर्श से अनुप्राणित होकर लक्षावधि लोगों ने अपने जीवन तक को तुच्छ गिनकर दूसरों के लिए अकातर प्राणों की बलि दी है और फलस्वरूप मृत्युहीन जीवन प्राप्त किया है।

---

२१७. सभी धर्मों का मूलमन्त्र है निर्लिप्तता, विषयों में अनासक्ति, समस्त प्राणियों पर प्रेम। जिनमें ये सब गुण हैं, वे देह और इन्द्रियों के वश में नहीं, उन्हें नाम-यश और प्रभुत्व की आकांक्षा नहीं, उनमें "मैं-मेरा" यह अभिमान नहीं, अपनी-परायी बुद्धि नहीं। वे धनी-निर्धन, ब्राह्मण-चाण्डाल, साधु-असाधु, शत्रु-मित्र, पशुपक्षी-कीटादि सब जीवों में समदर्शी हैं। वे स्तुति-निन्दा, हानि-लाभ, जय-पराजय सुख-दुःख में हर्षविषादरहित और निर्विकार रहते हैं। वे कर्म करके भी कर्म नहीं करते, कर्म न करके भी महाकर्मी हैं।

---

२१८. प्राणायाम का उद्देश्य है, शरीर में जो प्राणशक्ति क्रिया कर रही है उसे संयत करना। वही प्राणशक्ति हमारे निकट श्वास-प्रश्वास के रूप में प्रकाशित है। इन्हें नियमित रूप से (Rhythmically) प्रवाहित कर सकने पर मन का स्वाभाविक चांचल्य शान्त हो जाता है, मन स्थिर हो जाता है। मन अनेक विषयों में फैला हुआ है इसलिए

उसकी शक्ति का ह्रास होता है । उसी समस्त फैली हुई शक्ति को यदि किसी विषय में केन्द्रित किया जा सके तो उसकी क्षमता असीम हो जाती है; योगशास्त्र के मतानुसार, इस केन्द्रित शक्ति के लिए असम्भव कुछ भी नहीं । पारमार्थिक राज्य में इसी एकाग्रशक्ति को परमात्मा के स्वरूपध्यान में नियोजित करने पर जीव निर्विकल्प समाधि की सहायता से परब्रह्म में लीन होता है; हृदयकमल में साकार ईश्वर के ध्यान में तन्मय होने से इष्टदर्शन या भगवत्प्राप्ति होती है, और उसे आधिभौतिक या आधिदैविक विषयों पर प्रयुक्त करने से तत्सम्बन्धी अनेक सूक्ष्म और अद्‌भुत सत्य आविष्कृत होते हैं, अष्टसिद्धि अर्थात् अनेक दिव्य ऐश्वर्य और अलौकिक विभूतियाँ प्राप्त होती हैं ।

---

२१९. अणिमा, लघिमा, व्याप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता—योगशास्त्र के मतानुसार ये ही अष्टसिद्धियाँ हैं ।

---

२२०. योगसाधन की सर्वोच्च अवस्था निर्विकल्प या सविकल्प समाधि की प्राप्ति के मार्ग में ये सब विभूतियाँ या अष्टसिद्धियाँ भयंकर प्रलोभनस्वरूपी और अन्तराय हैं। यदि साधक इनके वशीभूत हुआ तो वह नाना कामनाओं में बद्ध होकर केवल योगभ्रष्ट ही हो सो नहीं, इनके दुरुपयोग से अति नीच प्रवृत्तियों का उदय होता है और इन्द्रिय-कार्य ही उनसे चरितार्थ होते हैं, और स्वयं की

स्वार्थसिद्धि के लिए वह अनेक लोगों का सर्वनाश तक करता है और अधःपतित होता है । परिणामतः उसकी यह सब शक्ति भी लुप्त हो जाती है ।

---

२२१. योगसाधन बड़ा कठिन है, साधारण आदमियों के लिए नहीं है । विशेष करके वर्तमान परिस्थिति और अवस्था में इन सब नियमों का यथातथ्य पालन करना एक प्रकार से दुःसाध्य है; जैसे सात्त्विक और अल्प आहार (फलमूल और दूध), परिमित व्यायाम और निद्रा, निर्मल वायुयुक्त निर्जन स्थान, उद्वेगशून्य जीवन, सब विषयों में नियमानुवर्तिता, विशेष करके कठोर ब्रह्मचर्यरक्षा, इन्द्रिय-निग्रह और योगसिद्ध गुरु के निकट निवास । इनमें से किसी एक का भी व्यतिक्रम होने से सिद्धिलाभ दुर्लभ ही समझो । अथवा गुरूपदिष्ट प्रक्रिया में कुछ भूल या त्रुटि होने से, किंवा किताबों में से पढ़कर अपनी बुद्धि के अनुसार अभ्यास करने से स्नायु सम्बधी या हृदययन्त्र की कठिन बीमारी, यहाँ तक कि मस्तिष्क विकृत होकर मनुष्य पागल तक हो सकता है ।

---

२२२. श्वास-प्रश्वास की गति असम, अर्थात् अति-द्रुत या अतिक्षीण क्यों होती है ? जब हम काम-क्रोधादि रिपुओं के वशीभूत हो जाते हैं,——सुख की आशा में भोग्य वस्तुओं के पीछे भागते हुए रास्ता भूल जाते हैं, सुख की खोज में किसी के बाधा देने पर क्रोध से अधीर हो उठते

हैं, विफल होने पर निराशा-सागर में डूब जाते हैं, सफल होने पर अहंकार के अतिरेक से पैर ही जमीन को नहीं छूते, मोह में दिशा-विदिशा का भी ज्ञान नहीं रहता, दूसरे का भला होते देखकर द्वेष से शरीर जलने लगता है, भारी विपत्ति में पड़कर भय से प्राण सूख जाते हैं, भावी विपत्ति की आशंका से चिन्ता में पिस जाते हैं, जब स्त्री-पुत्रों के भरण-पोषण और रक्षा के लिए उद्विग्न होते हैं, दुःख और अभाव की ताड़ना से मुह्यमान हो जाते हैं, रोग की यन्त्रणा में छटपटाने लगते हैं, प्रियजनों के शोक में जब सब दूर अन्धकार ही दिखता है, धन-सम्पत्ति के नाश से पागल हो उठते हैं—तब ही मन भयंकर चंचल होता है, और उसके साथ ही साथ श्वास-प्रश्वास भी कभी तो द्रुत और हथौड़ा पीटने के समान, या कभी क्षीण और बन्द होने सरीखा हो जाता है। मन की इस विषम चंचलता से प्राणवायु भी चंचल होती है, रक्त-संचार में भी गोलमाल हो जाता है। इन सब के मूल कारण को दूर न कर सकने पर, विषय-वासनाओं में वीतराग न होने पर, पारमार्थिक चिन्तन, या एकाग्रतापूर्वक जपध्यान करना बिलकुल ही असम्भव हो जाता है, फिर चाहे जितना प्राणायाम करते रहो, या कितनी ही प्रार्थना करते रहो।

---

२२३. अनेक लोग शायद सोचते हैं, मेरी तो शरीर पर ऐसी कोई विशेष आसक्ति नहीं है, संसार या स्त्री-पुत्रादिकों पर कोई विशेष माया-ममता नहीं है, रुपये-पैसे

में भी विशेष आँट नहीं है, मैं किसी के भी वश में नहीं हूँ, मन में आते ही सब झाड़ कर फेंक दे सकता हूँ। किन्तु जब अन्तर और बाहर के घात-प्रतिघातों में अथवा भाग्यचक्र के भँवर में पड़ उसकी कठोर परीक्षा होती है और डूबने की नौबत आती है, तब कहीं क्षणभर के लिए ज्ञान होता है— उस समय धारणा होती है माया की सांघातिक शृंखला से समस्त हाथ-पैर बँधी हुई अपनी निराशापूर्ण दुर्दशा की। जिनके पूर्वजन्म के शुभ संस्कार हैं, उन्हें ही यह बन्धन असह्य हो जाता है। वे चाहे जिस उपाय से, उस बन्धन से मुक्त होने के लिए प्राणपण से चेष्टा करते हैं। ये लोग हैं मुमुक्षु।

---

२२४. और एक श्रेणी के लोग हैं, जो पीढ़ी दर पीढ़ी क्रीतदासवत् पराधीन जीवन बिताते हैं। वही उनके लिए इतना स्वाभाविक हो जाता है कि वे स्वाधीनता के नाम से ही डरते हैं, सोचते हैं, ऐसे ही तो खूब अच्छे हैं। यह सब छोड़कर यदि अज्ञात और अनिश्चित मुक्तिपथ का अवलम्बन करना पड़े तो मुझे ऐसी मुक्ति की भी जरूरत नहीं। विष्ठा के कीड़े को पुष्प के ढेर में रख दो तो वह हाँप-हाँपकर प्राण छोड़ देता है। यही हैं बद्ध जीव।

---

२२५. संसार यदि अखण्ड सुखरूप ही होता—रोग, शोक, दुःख, अभाव, आपद-विपद, चिन्ता, भय आदि न होते—तो भगवान को पुकारने ही कौन जाता ? उन्होंने

ये सब दे रखे हैं हमारे सबक सीखने के लिए, हमारी परीक्षा के लिए, जिससे हम उन्हें भूले न रहे, जिससे बाध्य होकर उनकी शरण में जाना पड़े । इसीलिए सुखदु:ख सब अवस्थाओं में ही उन्हें जकड़कर पकड़े रहो, उन्हें अपना सर्वस्व समझकर जी भर के प्यार करो, समझे रहो, वे ही तुम्हारी एकमात्र गति, तुम्हारे सहायक और सहारा हैं । ऐसा करने से देखोगे, दु:ख-शोक और जितना भी कुछ अमंगल है सब भाग जायँगे, मन किसी से भी विचलित न होगा, अन्त:करण आनन्द से परिपूर्ण रहेगा ।

---

२२६. ईश्वरानुराग के कंगाल बनो, उनकी प्रेममय मूर्ति देखने के लिए व्याकुल होकर रोओ । उनके लिए पागल हो जाओ, मानो उनके बिना जीवनवहन ही कठिन है । उनके समान दु:ख का दर्दी और कौन है ? उनके समान अपना आदमी, अपने मन का आदमी और कौन है? सैकड़ों अपराध करने पर भी पश्चात्ताप होने से वे माफ कर देते हैं, गोदी में लेते हैं । उनका प्रेम असीम है, धारणातीत; वे अनन्त सुख के सागर हैं । वे अमृत के सागर हैं । उनमें कूद पड़ो, अमृतत्व प्राप्त होगा, आनन्द से ओतप्रोत होकर आनन्द में ही उतराने लगोगे, रसगुल्ला जैसे रस में तैरता है, वैसे । भक्त क्या ऐसे ही भगवद्रस-आस्वादन छोड़कर मुक्ति या निर्वाण नहीं चाहता !

---

२२७. मदक्की दो प्रकृति के होते हैं । एक प्रकार के

खूब शराब पीकर नशे में चूर होकर आनन्द से "माँ", "माँ" कहते हुए हुंकार देते हैं और श्यामासंगीत गाते गाते प्रेमाश्रुओं से तर हो जाते हैं। और द्वितीय श्रेणी के इतनी ज्यादा शराब पीते हैं कि अन्त में बेहोश होकर अचैतन्य अवस्था में पड़े रहते हैं। उनका ऐसा हुए बिना मन नहीं मानता, आशा पूरी नहीं होती। पहला समूह है भक्त, दूसरा है ज्ञानी। दोनों ही अपने अपने तरीके से साधना में तन्मय होते हैं; पर भक्त "तस्य अहं" (मैं उनका हूँ) भाव बचाये रखता है और ज्ञानी अपने अहं को उनमें लय करके "सोऽहम्" का अनुभव करता है--मैं ही वह अखण्ड अनन्त सच्चिदानन्द पूर्णब्रह्म परमात्मा हूँ। कहो, किसका आनन्द ज्यादा है? दोनों ही ज्ञान और भक्ति की चरम अवस्थाएँ हैं, एकात्मभाव है, वहाँ दोनों परस्पर मिल जाती हैं; कौन कौनसी है, पहचाना नहीं जा सकता।

---

२२८. निराकार ब्रह्म भौतिक आकाश के समान विराट् नहीं हैं, वे हैं अखण्ड चैतन्यस्वरूप। यह चैतन्य ही सर्वव्यापी है--सब वस्तुओं में ओतप्रोत है। उन्हीं की सत्ता से, उन्हीं के अस्तित्व से समस्त वस्तुओं का अस्तित्व है, उन्हीं की चित्प्रभा से, उन्हीं के ज्ञानालोक से जागतिक ज्ञान है, उन्हीं के आनन्द से संसार का यत्किंचित् आनन्दप्रवाह है। इस तरह से वे विराट् हैं। ध्यान की सुविधा के लिए, आकाश उनकी एक उपमा मात्र है।

---

२२९. ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ।।

गीता, ४।२४

--होमाग्नि में आहुतिदानरूप क्रिया ब्रह्म, आहुति का घृत ब्रह्म, ब्रह्मरूप अग्नि में ब्रह्मरूप होता होम करता है। कर्म में ब्रह्मबुद्धि करके वह ब्रह्म को ही प्राप्त होता है।

गीता के इस श्लोक का तात्पर्य है--जो कुछ भी किया जाय, ब्रह्मबुद्धि से अर्थात् ब्रह्म के साथ अपने को एक समझकर करना चाहिए, जिससे समस्त जीवन ही एक अखण्ड यज्ञस्वरूप हो जायगा। कर्ता, कर्म, करण, अभीष्ट ये सभी ब्रह्म हैं। सब ही काम यज्ञस्वरूप समझो, उन्हीं की आराधना। खाते समय सोचो, खाद्य वस्तु वे ही हैं, भोजन की क्रिया भी वे ही हैं, उसके उपकरण भी अर्थात् इन्द्रियादि, जिनकी सहायता से हम खाते हैं, वे ही हैं और भोक्ता--रसास्वादन करनेवाले भी वे हैं। ब्रह्मस्वरूप जठराग्नि में मानो अन्न की आहुति दे रहे हो, इसी ज्ञान से भोजन करो। और खाना ही क्यों, संसार की प्रत्येक वस्तु में, प्रत्येक काम में, प्रत्येक विचार में यही ब्रह्मबुद्धि लानी पड़ेगी। यही है जीव के समस्त कर्मफलनाश का एकमात्र उपाय, कारण उसका कर्म ब्रह्मप्राप्ति को छोड़ और किसी फल को उत्पन्न नहीं करता। हमारे समस्त कर्मों के भीतर, समस्त उद्देश्यों के भीतर मानो हम भगवान की प्रतिष्ठा कर सकें; उनका मंगल स्पर्श, उनकी मंगलमयी इच्छा, सभी में, सब समय हम अनुभव कर सकें; "मैं कर्ता हूँ" यह अहं-बुद्धि त्याग

करके समस्त कर्मों का फलाफल हम उन्हें समर्पित कर सकें---इसी बात का इस श्लोक में भगवान श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है। हम लोगों के मठ के प्राय: समस्त केन्द्रों में दोनों बार, भोजन के पहिले इस श्लोक की सम्मिलित स्वर से आवृत्ति की जाती है।

---

२३०. भक्त रामप्रसाद का इसी आशय का एक अच्छा गीत है--

"मन कहता हूँ काली को भज, चाहे जिस आचार से,
गुरुप्रदत्त महामन्त्र जपे जा, निशिवासर तू प्यार से।
सोने में कर प्रणाम-बुद्धि, निद्रा में कर माँ का ध्यान,
नगर-भ्रमण में प्रदक्षिणा है, माँ की, तुझको होवे भान।
जो कुछ कर्णपुटों से सुन तू, सब ही माँ के मन्त्र सही,
वर्ण वर्ण का नाम धारकर, काली बावन वर्णमयी।
चर्व्य चोष्य और लेह्य पेय सब, जितने रस संसार में,
भोजन करते अनुभव कर तू, आहुति श्यामा अग्नि में।"

---

२३१. यह देह अनित्य है, परिणाम में इसके कृमि और राख बनेंगे, और इसके उपादान हैं--दुर्गन्धित मल, मूत्र, श्लेष्मा, रक्त, मेद, मज्जा, मांसादि अपवित्र घृण्य वस्तुएँ। ऐसे एक हाड़मांस के पिंजरे में आबद्ध होकर मनुष्य कितना भयानक मोहग्रस्त हो जाता है। इसी में आसक्त होकर और इसी में अहंबुद्धि स्थापित करके रोजमर्रा अनन्त दुःख भोगता है, फिर भी तो चैतन्य लाभ नहीं होता। महामाया की

ऐसी ही माया है, क्या अद्‌भुत जादू बनाकर रखा है ! जो मोक्षकामी हैं वे शरीर और इन्द्रियग्राह्य समस्त वस्तुओं को असार और अनित्य समझकर इस सर्वनाशकारी मोहजाल का मूलोच्छेद करके नित्य वस्तु के आश्रित होने के निमित्त यत्नपरायण अवश्य हों।

---

२३२. साधक कवि ने गाया है— (भावार्थ)— "महामाया की माया ने कैसा जादू कर रखा है ! ब्रह्मा विष्णु अचैतन्य हुए हैं, तो फिर जीव उसे कैसे समझे ? मछुआ छिद्रमय जाल को फैलाता है और उसमें मछली प्रवेश करती है। आने-जाने का मार्ग खुला रहता है, फिर भी मछली नहीं भागती। रेशम का कीड़ा कोश बनाता है, यदि काटना चाहे तो वह उसे काट भी सकता है। महामाया से बद्ध कीड़ा खुद अपने ही जाल में मर जाता है।"

---

२३३. उपासना का अर्थ है ईश्वर के समीपवर्ती होना, उनके निकट आसीन होना। व्यर्थ के विचार और व्यर्थ के कामों से हमारा उपकार साधित न होकर अपकार ही है। उनमें पड़कर हम अपने आपको भूल जाते हैं और वे हमें भगवान से हटाकर, न मालूम कहाँ कूड़ेखाने में डाल देते हैं। जितने ही हम इन वृथा विचार, काम और अनित्य विषयों से अलग रहेंगे और ध्यान, पूजा और नामजप आदि में तथा परोपकार और जीव-सेवा आदि सत्कर्मों में अपने को नियोजित रखेंगे, उतने ही हम भगवान के निकट-

वर्ती होंगे, उन्हीं के भाव से भावित होंगे और हमारा अन्तर आनन्द से परिपूर्ण हो जायगा। संसार पर विजयी होने का तथा दुःख और अशान्ति से बचने का अन्य कोई उपाय नहीं है।

---

२३४. श्रीठाकुर के दो कथन पूजनीय स्वामी प्रेमानन्दजी के मुख से वराहनगर मठ में मैंने सुने थे। वे कहीं प्रकाशित हुए हों ऐसा देखने में नहीं आया। वे ये हैं:-- "आचार्यकोटि के पुरुष हैं मानों पकी हुई गोट, कच्ची होकर पुनः खेलती है। वे जानते हैं दो, चार, छः, आठ, दस, सब उनके हाथ की ही बात है। वे अन्य कच्ची गोटों के साथ अपनी जोड़ लगाकर उन्हें भी पार कर देते हैं। इसीलिए जोड़ लगाने की चेष्टा करो। चौपड़ के खेल में जोड़ कोई मार नहीं सकता। उसी तरह गुरु प्राप्त हो जाने पर फिर भय नहीं।"

---

२३५. "एक स्त्री ने बड़ी मुश्किल से एक जोड़ी सोने की चूड़ियाँ बना कर पहनी थीं। पर कोई उन चूड़ियों की तारीफ ही नहीं करता था। हताश होकर उसने अपनी झोपड़ी में आग लगा दी और चिल्लाकर, लोगों को जमा करके हाथ हिला-हिलाकर कहने लगी, 'क्या जी, आप लोग तो सब देखते ही हो, मेरे घर में आग लग गयी। मेरा जो कुछ था सब जल गया, केवल यही एक जोड़ी चूड़ियाँ बची हैं।' हीन दर्जे के लोग इसी साधारण कुछ होने

या पाने पर उसे लोगों को बताये फिरने के लिए ही उतावले रहते हैं, अपना नुकसान करके भी।"

---

२३६. मनुष्य का समस्त जीवन ही प्रलोभनों की समष्टि है। कामादि षड्रिपुओं के तो आँख में नींद ही नहीं, वे केवल घूमते ही रहते हैं कि किसको फन्दे में फँसाकर ग्रसित करें। इसीलिए सब समय सचेत रहने की जरूरत है, सदा होशियार रहना पड़ेगा, सर्वदा सदसत् विचार और प्रार्थना करते रहना पड़ेगा। चोर यदि देखता है कि घर में चिराग जल रहा है, और कोई जग रहा है, तो वह उस घर में सेंध नहीं काटता, अन्यत्र चला जाता है। ज्यों ही तुम अलग हुए, असावधान या दुर्बल हुए कि उसी समय तुम्हारे शत्रु खाली अवसर पाकर जोर पकड़ते हैं, बार बार तुमसे हार जाने पर भी तुम्हें यातनाचक्र में डालने की चेष्टा करेंगे, किसी भी तरह ठहरेंगे नहीं, न हटेंगे, पर तुम किसी भी तरह हार नहीं मानना, हताश नहीं होना, बारबार गिर जाने पर भी पुनः नये उत्साह से उठकर खड़े हो और लड़ो। फिर देखोगे कि तुम्हारी हार भी जीत में ही शामिल हो जाती है। इससे तुम प्रतिबार ही कुछ और आगे बढ़ जाओगे। उच्च जीवन बिताने के लिए सचमुच ही जिनका आन्तरिक आग्रह है, उन्हें भगवान ही सहायता करते हैं, बल देते हैं, प्रेरणा देते हैं, उनकी विघ्न-बाधाओं को दूर करके पथ सुगम कर देते हैं। वे जब शत्रुओं से अविराम युद्ध करते हुए थक जाते हैं, और व्याकुल अन्तःकरण से

उनकी शरण ग्रहण करते हैं, तब वे अवश्य ही उन्हें अपनी क्रोड़ प्रदान करते हैं। वे शरणागतवत्सल हैं।

---

२३७. भक्त भगवान की सेवा करता है कि भगवान भक्त की सेवा करते हैं? ऐसा एक समय आता है, जब भक्त देखता है कि वह उनकी और क्या सेवा करता है या कर सकता है, भगवान ही उसकी सेवा कर रहे हैं। उसके लिए तो भगवत्सेवा, गंगाजल से ही गंगापूजा के समान है--उन्हीं की दी वस्तुएँ उन्हें देना। भक्त तो अपने लिए कुछ भी चिन्ता नहीं करता, भगवान को ही उसके लिए चिन्ता रहती है। भक्त मैं उसको कहता हूँ--जिसकी भगवान में शुद्धा भक्ति,--निष्काम, अहेतुकी भक्ति है, जो भगवत्प्रेम में पागल है। ऐसे सदा तद्‌गत-चित्त भक्त का बोझा भगवान ही ढोते हैं, "योगक्षेमं वहाम्यहम्"। ऐसे भक्त बड़े दुर्लभ हैं। हमारे पुराण-इतिहासादि में उनकी कथाएँ हैं, जैसे नारद, प्रह्लाद, शुकदेव, विदुर, श्रीराधा तथा अन्य व्रजगोपिकाएँ व गोपगण, उद्धव, हनुमान इत्यादि; ऐतिहासिक युग में हैं चैतन्यदेव, मीराबाई, रामानुज, तुकाराम, रामप्रसाद, रामकृष्ण, विवेकानन्द, पवहारीबाबा, नागमहाशय आदि। इनमें श्रीराधा, श्रीचैतन्यदेव और श्रीरामकृष्ण, भगवान के अवतार समझे जाकर पूजित होते हैं।

---

२३८. एकमात्र शुद्धा भक्ति से, शुद्ध प्रेम से भगवान भक्ताधीन होते हैं, प्रेम के बल पर ही वे भक्त के निकट

बँध जाते हैं, पराजय स्वीकार करते हैं। प्रेमपाश में बद्ध होकर अचल रूप से भक्त के हृदय में निवास करते हैं। भक्त को उनके लिए कुछ भी अदेय नहीं है।

---

२३९. भक्त जैसे भगवान को छोड़कर नहीं रह सकता, भगवान भी वैसे ही भक्त को छोड़कर नहीं रह सकते-- प्रेमासक्त युवक-युवती के समान। पर युवक-युवती का प्रेम रूपज और गुणज है, अपने निजी सुख और स्वार्थ की तीव्र दुर्गन्ध से परिपूर्ण है--उसमें जरा भी इधर-उधर होने पर या चाल-चलन में मेल न होने पर फिर वह नहीं ठहरता, मुख में कटु स्वाद लाकर रख जाता है। किन्तु ऐश्वरिक प्रेम है निष्काम, अपार्थिव, अन्तहीन। उस अमृत का जितना ही पान करो, पिपासा उतनी ही बढ़ती है, किसी भी तरह मन भरता ही नहीं। प्रेम, प्रेमपात्र, प्रेमिक में अभेद हो जाता है, वे एकाकार हो जाते हैं। तब केवल आनन्द ही अवशिष्ट रहता है।

---

२४०. जब, जिस तरह से माँ रखें, जानना वही तुम्हारे मंगल के लिए है--तुम उसे समझो या न भी समझो। सुख-दुःख सभी उनके करकमल का मंगल स्पर्श है। उनकी लीला को कौन समझेगा! सुख में रखें चाहे दुःख में, सब को ही उनका आशीर्वाद मानकर सिर झुकाकर ग्रहण करो।

"माँ कितना भी मारे उसकी मार मीठी ही लगती है। मन में यह धारणा रहेगी तभी मैं सचमुच माँ का बेटा

हूँ। माँ के प्रहरों से बालक नहीं मरता, उसकी भ्रुकुटियों से वह नहीं डरता। माँ जिस प्रकार उसे रखती हैं, वह रहता है। माँ के अतिरिक्त वह और किसी को नहीं जानता।

---

२४१. रत्तीभर अस्वच्छ बुद्धि की सहायता से शास्त्र-चर्चा, तर्क, विचार और युक्तियों के जरिये भगवान को समझ ही कौन सकेगा? उलटे इनके द्वारा समझने की चेष्टा करने पर, सब गोलमाल होकर ऐसी एक अव्यवस्थितता आ जायगी कि अपने खुद के अस्तित्व में भी सन्देह होने लगेगा। ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जीवन पाकर आम के पत्ते गिनते हुए, उन पर अद्‌भुत गवेषणा करते हुए अपने दिन काटोगे या आम खाकर परितृप्त होओगे? जो यह सब करें, उन्हें करने दो, बाबू, तुम्हें उससे क्या करना है, तुम तो पेट भरके आम खाओ।

---

२४२. अवश्य ही ज्ञानचर्चा, विचार, तर्क, गवेषणा आदि से बुद्धि परिमार्जित होती है, अनेक सूक्ष्म तत्त्व जानने में आते हैं, अनेक नये तथ्यों का आविष्कार होता है, जिनसे जगत् का काफी हितसाधन होता है। और वही सब विद्या और ज्ञान, स्वार्थी और इहकाल-सर्वस्व लोगों या जाति-विशेष के हाथ में पड़कर जगत् की अशेष दुर्दशा और जनहत्या के भी कारण बनते हैं, मनुष्य हिंस्र पशुरूप हो जाता है और संसार साक्षात् नरककुण्ड बन जाता है।

---

२४३. प्रार्थना कहलाती है, अपने अन्तर्यामी के निकट अपने अन्तर की वेदना और अभाव को, भाव या भाषा के जरिये ज्ञापन करना, और उसे नष्ट करने के लिए कातरता-पूर्वक उनकी कृपा-याचना करना। वह प्रार्थना सकाम है, जिसमें कहा जाता है, "हे प्रभु, संसार की यातना, रोग, शोक, अभाव, कमी, मैं अब और नहीं सह सकता, तुम इन सब को दूर कर दो।" निष्काम प्रार्थना होती है, "हे प्रभु, तुम्हारी जितनी इच्छा हो मेरे कन्धों पर वजन लाद दो, दुःख में रखो, विपत्तियों में डालो, इनसे मेरा कुछ बनता बिगड़ता नहीं; केवल मुझे इतना ही शक्ति-सामर्थ्य दो कि मैं किसी से भी विचलित न होऊँ, जिससे मैं तुम्हें भूल न जाऊँ, जिससे तुम्हारे अभय चरणकमलों में मेरी शुद्धा भक्ति हो।"

---

२४४. भगवत्प्राप्ति या मोक्षलाभ, मनुष्यजीवन का प्रधान उद्देश्य है। इस परम पुरुषार्थ को पाने का अधिकार और सामर्थ्य केवल मनुष्य को ही है—पशु या देवता, गन्धर्व, किसी को नहीं। पशुओं को इसलिए नहीं, कि वे विवेक-बुद्धिहीन हैं। देवताओं के लिए मोक्षलाभ इसलिए असम्भव है कि उनकी बुद्धि निरतिशय सुख-सम्पदा के कारण ढकी रहती है, विवेक-वैराग्य के लिए मौका ही कहाँ है! पुनः इसी कारण से मनुष्यों के बीच भी जो विपुल धन-सम्पत्ति के अधिकारी हैं, उनके लिए भी मोक्षलाभ कठिन ही है। और जो अत्यन्त गरीब हैं, भूख की ज्वाला और

अभावों की चोट से सदा ही बेचैन हैं और पागल जैसे हो रहे हैं, उन्हें भी धर्मलाभ नहीं होता। मध्यवित्त लोगों के लिए ईश्वरप्राप्ति सम्भव है, क्योंकि उनकी अवस्था इन दोनों के बीचोंबीच है। जगत् के इतिहास में धर्म, समाज, राष्ट्र और जीवन के अन्यान्य कर्मक्षेत्रों में और विचार-जगत् में, जो सब शक्तिशाली मनीषीगण प्रतिभाबल से अपनी अभय कीर्ति और प्रभाव छोड़ गये हैं, उनमें से प्राय: सब का ही जन्म इसी मध्यम श्रेणी के लोगों में हुआ था, ऐसा देखने में आता है।

---

२४५. यदि हम आगामी कल की बात लेकर आज के दिन को बकवाद और लड़ने-झगड़ने में बिता दें तो फिर कल का दिन तो ऐसे ही खो गया।

---

२४६. विद्या, बुद्धि, धन, शास्त्रज्ञान, तर्क, विचार, दान, पुण्य, योग, याग-यज्ञ, तपस्या--किसी से भी भगवान नहीं मिलते, वे पकड़ाई में नहीं आते। उन्हें पकड़ने, वश में करने का एकमात्र ब्रह्मास्त्र है--प्रेम, भक्ति। वे "अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूप" हैं, उसी जगह चोट मारने से, उनका स्वरूप प्रकटित होता है, वे अपने को फिर और छिपाकर नहीं रख सकते। जैसे दुधारू गाय, थनों में बछड़े के मुँह मारते ही झट से दूध उतार देती है।

---

२४७. वेदों में परमेश्वर को सब गुणों से परे, नामरूप,

देशकालनिमित्त आदि परिच्छेदों से विरहित, वाक्य-मन-बुद्धि के अगोचर, सर्वव्यापी, अनादि, अनन्त, अचिन्त्य-स्वरूप कहा है। पर भक्त का मन तो यह सब मान लेकर निरस्त नहीं होना चाहता--हो भी नहीं सकता। भक्त कहता है, परमेश्वर यदि ऐसे ही हों, तो उनके रहने या न रहने से ही क्या ? यदि उन्हें देख न सका, यदि उन्हें अपना नहीं बना पाया, तो धर्म-कर्म सब व्यर्थ है, मैं भी व्यर्थ हूँ और जन्मधारण भी व्यर्थ है। पर ऐसा क्या कभी भी हो सकता है ? उन्हें तो इसी जन्म में ही प्राप्त करना होगा। भक्त का आन्तरिक करुण क्रन्दन परमेश्वर के आसन को डगमगा देता है, तब फिर वे और अपनी महिमा में प्रतिष्ठित नहीं रह सकते। वे तो सर्वज्ञ हैं, समस्त भूतों के अन्तरामा, सर्वान्तर्यामी, अहेतुकदयासिन्धु और सर्वोपरि भक्तवत्सल हैं। इसीलिए वे भक्त की मनोकामना पूर्ण करने के लिए, अपने असली स्वरूप को छिपाकर उसके द्वारा आकांक्षित रूप से, हृदयमन्दिर में दर्शन देकर उसको कृतार्थ करते हैं। और जीव जिससे उनके स्वरूप को सहज में हृदयंगम कर सके, इसीलिए वे कभी कभी नरदेह धारण कर अवतीर्ण होते हैं। तब पापी-तापी तक, उनकी कृपा से, बिना साधन-भजन के भी तर जाते हैं।

---

२४८. भगवान साधक पर कृपा करके, और उसकी आराधना की सुविधा के लिए रूप धारण करते हैं। उनको गुणातीत अचिन्त्य स्वरूप से, अथवा केवल समस्त ऐश्वरिक

गुणों के समष्टिरूप से धारणा में लाना सम्भव नहीं है। अनेक समय हम शिव को गढ़ने जाकर बन्दर गढ़ बैठते हैं। हम जब तक मनुष्य हैं, जब तक हमारी देहबुद्धि है या द्वैतभाव है, तब तक ईश्वर को एक अनन्त ईश्वरीय गुण-भूषित आदर्श मनुष्य रूप में चिन्तन करने के अलावा हमारे पास अन्य उपाय नहीं है।

---

२४९. निराकार रूप से परमेश्वर का चिन्तन करने की कोशिश करने से, हम बहुत हुआ तो विराट् आकाश या असीम समुद्र की कल्पना कर पाते हैं। प्रथमावस्था में निराकार ध्यान के प्रयत्न में हम शून्य का ही ध्यान कर सकते हैं। उसमें अन्य कुछ तो आरोपित हो ही नहीं सकता--अन्धकार में पत्थर फेंकने के समान ही तो है, और क्या ! निराकार पिता या निराकार माता का ध्यान, कष्ट की कल्पना है--एक अर्थशून्य बात की बात मात्र। निराकार ध्यान में हम आध्यात्मिक उन्नति के पथ पर, कोई विशेष आगे नहीं बढ़ सकते, क्योंकि वह नीरस और अवलम्बन-रहित है। सर्वरूपातीत निराकार ब्रह्म का ध्यान करने के अधिकारी हैं एकमात्र देहज्ञानशून्य, मुक्त, परमहंस, जो सर्वभूतों में ईश्वर को देखते हैं।

---

२५०. भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है, "साधुओं की रक्षा, दुर्जनों के विनाश और क्षयोन्मुख धर्म की संस्थापना के लिए मैं युग युग में जन्मग्रहण करता हूँ।" किन्तु

"यह तो है सब बाहरी, आगे कहिये और" भी है। ईश्वर तो सर्वशक्तिमान हैं, वे मनुष्य-शरीर धारण करने का अनन्त कष्ट सहन न करके भी तो यह सब इच्छा मात्र से ही सम्पादित कर सकते थे। उनके अवतार-तत्त्व के सम्बन्ध में केवल इसी को श्रेष्ठ प्रमाण मानकर ग्रहण नहीं किया जा सकता। धर्मद्वेषी अत्याचारी कंस और शिशुपाल का उन्होंने वध किया था, केवल इतने से ही उन्हें ईश्वर का अवतार नहीं कहा जा सकता। संसार के इतिहास में ऐसी अनेक घटनाएँ पायी जाती हैं, जहाँ उस तरह के अत्याचारी राजाओं की हत्या करके प्रजा के दुःख प्रशमित किये गये हैं। अलौकिक घटनाएँ भी योगसिद्ध महापुरुषों के जीवन में अनेक देखी गयी हैं, उनके लिए कुछ भी असाध्य नहीं। श्रीकृष्ण का अवतारत्व, उनके मथुरा या द्वारका के राजा रूप से, या कुरुक्षेत्र में पाण्डवों के सहायक रूप से, उनकी कार्यावली द्वारा भी प्रमाणित नही होता। यह सब करते समय उन्हें अनेक बार कूटनीति का आश्रय लेना पड़ा था। उनके ये सब अद्भुत कार्य अवश्य ही हम लोगों में प्रगाढ़ श्रद्धा और विस्मय उत्पादन करते हैं और उनकी बहुमुखी प्रतिभा का परिचय देते हैं। पर ये सब समयोपयोगी कार्य मात्र हैं। उनका सुदूर-व्यापी कोई स्थायी प्रभाव मानवजीवन पर नहीं देखा जाता।

---

२५१. श्रीकृष्ण के अवतारत्व का प्रकृष्ट प्रमाण एक-मात्र वृन्दावन-लीला में ही प्रकट हुआ है, क्योंकि उसी में वे

अपनी अनिर्वचनीय प्रेमस्वरूपता की मूर्त लीला दिखा गये हैं । शुद्ध भक्ति और प्रेम से भगवान कितने भक्ताधीन हो जाते हैं और वे भक्त को कितना अधिक अपना कर ले सकते हैं, यह सब से अधिक, उनकी वृन्दावन-लीला से ही समझ में आता है । जिस प्रेम की धारणा करना हम लोगों की बुद्धि के लिए अगोचर है, जिसके आकर्षण से व्रज-गोपियाँ, यमुना-पुलिन में उनकी वंशी सुनकर, लज्जा, भय, कुल, मान सब को तुच्छ गिनकर, उन्मत्तवत् उनके दर्शन और संग लाभ के लिए छूट पड़ती थीं और उन्हें मिलकर अहं-ज्ञान और देहभान भी भूलकर उनमें तन्मय हो जाती थीं, उसी प्रेम की पराकाष्ठा को, वे उस लीला के द्वारा, संसार को दिखा गये हैं, जो भगवान को छोड़कर, मनुष्य के लिए कदापि भी सम्भव नहीं । उस अपूर्व नित्यलीला का मधुर आध्यात्मिक प्रभाव, युगयुगान्तरों में से होता हुआ, असंख्य नर-नारियों के हृदयों को आकर्षित करता आ रहा है, उनकी इष्ट ज्ञान से उपासना के जरिये उनके जी को शान्ति और आनन्द देता आ रहा है, और उसने उन्हें मोक्ष का अधिकारी बनाया है । उसी प्रेम के भाव को पुनः उज्जीवित करने के लिए महाप्रभु चैतन्यदेव अनेक युगों के बाद अवतार ग्रहण करके आये थे । और श्रीराधा के साथ श्रीकृष्ण की उसी कामगन्धरहित मधुरलीला में महाभाव से अपने अस्तित्वबोध तक को भूलकर, संसार को शुद्ध भक्ति और शुद्ध प्रेम बाँट गये हैं । और उस दिन हमने भगवान श्रीराम-कृष्ण के जीवन में देख पाया, वे राधाकृष्ण के मधुरभाव

सम्बन्धी गायन गाते अथवा बात कहते हुए महाभाव में ऐसे आत्मविस्मृत हो जाते कि उनके अंग पर श्रीराधा और श्रीचैतन्य के अष्ट सात्त्विक भावों के सब लक्षण प्रकाशित हो उठते।

---

२५२. जिसके पास जो है उसी का वह त्याग कर सकता है, जो है ही नहीं, उसका और त्याग ही क्या? किसी वस्तु का वर्जन करने के लिए, पहले उसका अर्जन होना चाहिए। उसके दायित्व से बचने की चेष्टा नहीं चलेगी। 'उड़कर गिरे भाड़ से लाही, गोविन्दाय नमो नमः'--इस तरह से भगवान को 'लाही' की मानता देने से कुछ नहीं होगा। शास्त्र भोग करने का निषेध नहीं करते, कहते हैं, त्याग के द्वारा भोग करो, अर्थात् ममता और आसक्ति त्याग करके भोग करो। जगत् की समस्त वस्तुएँ ही ईश्वर द्वारा परि-व्याप्त हैं, वे प्रत्येक वस्तु में अनुस्यूत हैं, सब ही उनका है, ऐसा समझकर, अहं-मम-भाव त्याग करके, सब काम करो, सब कुछ भोग करो, अन्यथा भोग दुर्भोग में परिणत हो जायँगे। इस तरह से भोग करने पर, योग अपने से ही आयगा और आपरूप ही हो जायगा।

---

२५३. इष्ट वस्तु का स्मरण-मनन करना अर्थात् उनके साथ अपने मन का संयोग स्थापित करना। यह विचार-धारा जितनी प्रगाढ़ और लगातार होगी, चित्तविक्षेपकारी वृत्तियाँ जितनी ही शान्त होंगी, उतना ही यह संयोग तैलधारा

के समान अविच्छिन्न होगा, इसे ही ध्यान कहते हैं। यही ध्यान और भी प्रगाढ़ होने पर ध्येय वस्तु के साथ मन का एकीकरण हो जाता है, वह तदाकार हो जाता है। इस अवस्था को समाधि कहते हैं। उसी समय स्व-स्वरूप की पूर्ण अनुभूति होती है; इष्टदर्शन या भगवत्प्राप्ति होती है। उपनिषद् कहते हैं, तभी हृदय की गाँठें अर्थात् कामनादि नष्ट हो जाती हैं; समस्त संशय छिन्न हो जाते हैं, कर्मफल का क्षय हो जाता है--सब दुःखों का अवसान हो जाता है। इसलिए ईश्वर-प्राप्ति का पहला कदम है स्मरण-मनन, दूसरा कदम है चित्तवृत्तियों का शान्तभाव, तीसरा है ध्यान और अन्तिम समाधि। एक सीढ़ी को बिलकुल ही उड़ाकर आगे की अन्य सीढ़ी पर एकाएक जाते नहीं बनता। अतः स्मरण-मनन की ही चरम परिणति ईश्वर-प्राप्ति है।

---

२५४. बार बार दुहराने और अभ्यास के द्वारा इस स्मरण-मनन को दृढ़ता से मन में गाँठ देने के लिए ही जप, ध्यान, आराधना आदि का विधान है। इष्टमन्त्र के पुनः पुनः दीर्घकालीन प्रत्यह जप करने का प्रयोजन भी यही है। हम जिस विषय को लेकर क्रमशः उसमें संलग्न बने रहते हैं या उसकी चर्चा करते रहते हैं, उसकी छाप मन पर पड़ती है। मन से निकल गये ऐसा ऊपर से मालूम पड़ने पर भी, वे सारे चित्र सूक्ष्म भाव से, संस्कार रूप से मन में ही रहते हैं और अनुकूल परिस्थिति प्राप्त होने पर, मनुष्य के न

जानते हुए भी उसे कार्य या विचार के लिए प्रेरित करते हैं— असत् संस्कार प्रबल हुए तो बुरे भावों की ओर सुसंस्कार प्रबल हुए तो अच्छे भावों की प्रेरणा मिलती है । इसीलिए देखा जाता है कि जो दुष्कर्मी हैं, वे क्रमशः और ज्यादा कुकर्मों में लिप्त होते हैं और जो आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील हैं, वे उसी पथ में जल्दी जल्दी आगे बढ़ते हैं ।

---

२५५. समस्त ब्रह्माण्ड में जितनी शक्ति है, उस सब की समष्टि सदा उतनी ही रहती है, उसमें क्षयवृद्धि या विनाश नहीं; पर उसका विकार या परिणाम होता रहता है—वह अनेक रूपों में रूपान्तरित मात्र होती रहती है । हम कुछ भी अच्छा-बुरा विचार काम क्यों न करें, वह कोई भी नष्ट नहीं होता, सूक्ष्म भाव से उनकी क्रिया चलती रहती है या वे संचित रूप में रहते हैं; अवसर पाते ही क्रियाशील होते हैं, अर्थात् उनका अच्छा या बुरा फल हमें ही भोगना पड़ता है । केवल यही नहीं, वे अन्य को भी प्रभावित करके भुगवाते हैं ।

---

२५६. स्वामीजी (स्वामी विवेकानन्द) ने कहा है, हम जितने तरह की क्रियाशक्ति या विचारशक्ति दुनिया में बाहर भेजते हैं, वह विश्वाकाश में तरंगाकार परिभ्रमण करती हुई, जिस मनुष्य में उसी भाव के स्पन्दन हो रहे हों, उसी पर अपना प्रभाव डालकर काम करती है, उसे उसी भाव के लिए उकसाती है, उसमें शक्तिसंचार करती है और

उससे स्वयं भी शक्तिसंचय करती है। और वही शक्ति अपनी चक्रगति पूर्ण करके अपने उत्पत्ति-स्थान पर किसी न किसी समय लौटकर जोर से आघात करती है। हम किसी का अनिष्ट करें, या किसी को दुःख दें, तो कभी न कभी, इस जन्म में या परजन्म में हमें उसी तरह का फल भोगना पड़ेगा--यही है प्रकृति का नियम।

---

२५७. प्रकृति के इस प्राकट्य नियम का ज्ञान न होने से हमें क्यों इस तरह का भोग भोगना पड़ा, इसका कोई प्रत्यक्ष कारण न पाकर, अथवा उसका कोई अप्रत्यक्ष कारण हमारी सहज बुद्धि द्वारा गम्य न होने से ही हम तकदीर या भगवान को दोष देते हैं, उसे निष्ठुर और पक्षपात की दृष्टि से देखनेवाला कहते हैं! हम इतने मोहग्रस्त हैं कि अपने कर्मों का फल, ब्याज सहित, खुद को ही भोगना होगा, यह कभी सोचते तक नहीं! इन सब परिणामों को सोचकर समस्त काम और विचारों को संयत करो, सन्मार्ग में परिचालित करो। थोड़े समय के सुख या फायदे के लिए कभी भी किसी दूसरे के दुःख या अनिष्ट के कारण मत बनो। धर्ममार्ग में अविचलित भाव से चलने पर दैवी सम्पद के (गीता १६, १-३) अधिकारी होओगे, चित्त शुद्ध होगा और ईश्वरीय शक्ति की क्रिया का अन्तःकरण में साक्षात्कार होगा। तब ऐसी अवस्था हो जायगी कि बुरा करने की इच्छा होने पर भी, कर नहीं सकोगे। श्रीठाकुर जैसा कहते थे, और जैसे कि उनके जीवन की घटनाओं द्वारा

प्रमाणित होता है, 'कभी भी बेताल पैर नहीं गिरेगा'। परम धार्मिक व्यक्ति के यही चिह्न हैं।

---

२५८. बहुतों की यह धारणा है कि ज्ञानमार्ग और योगसाधन को छोड़कर समाधिलाभ नहीं होता। पातंजल-योगदर्शन में है--"स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोग:"--मन्त्रजप के द्वारा इष्टदर्शन होता है। उसके बाद ही फिर है "समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्" तथा एक जगह और है "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" अर्थात् ईश्वर पर मन की एकाग्रता और ईश्वर को समस्त क्रियाएँ और उनका फल समर्पित करने से समाधि-अवस्था की प्राप्ति होती है। भाष्यकार व्यासदेव लिखते हैं, "ईश्वरप्रणिधान अर्थात भक्तिविशेष द्वारा प्रसन्न होकर ईश्वर इच्छामात्र से ही भक्त पर अनुग्रह करते हैं, केवलमात्र उनकी इच्छा से ही योगी को समाधिलाभ और उसका फल अतिशीघ्र हो सकता है।" अत: अष्टांग-योग का अभ्यास न करने पर भी समाधि हो सकती है। भगवान में तन्मयत्वलाभ और समाधि एक ही बात है। केवल भाव और उपायों की भिन्नता है, वस्तुलाभ और उसका फल, दोनों का एक ही है। जो निर्गुण ब्रह्म हैं, वे ही सगुण ब्रह्म हैं। और फिर देहबुद्धिवाले जीव के लिए सगुण ब्रह्म की उपासना ही सहज है।

---

२५९. सकाम उपासना अपनी खुद की ही उपासना है, भगवान की नहीं, आधि-व्याधि, आपद-विपद, अभाव,

दुःख, भय, चिन्ता, शोक--इन सब के हाथ से त्राण पाने के लिए भगवान की पुकार--अपने ही भोग और सन्तोष के लिए है, खुद की सुख-सुविधा मात्र के लिए है। स्नान-दान, पर्व-पूजन, व्रत-उपवास, याग-यज्ञ, शान्ति-स्वस्त्ययन, तीर्थाटन, साधुसेवा, चण्डीपाठ--सकामभाव से इस सब के अनुष्ठान का उद्देश्य है पापक्षय और पुण्यसंचय। पापक्षय, अर्थात् कृत पापकर्मों का कुफल जो नरकभोग या दुःखभोग है, उससे जिस तरह सहज ही बचा जा सके उसके निमित्त--पापवृत्ति के क्षय के लिए नहीं। पुण्यसंचय का उद्देश्य है, इस जीवन में आत्मीय पुत्र परिवारादिक के साथ सुख-स्वच्छन्दता से रहना और परकाल में स्वर्ग में अक्षय सुखभोग। ये दोनों ही मन के भ्रम हैं--वृथा आकांक्षा हैं। अमिश्रित सुख इस संसार में नहीं है, और स्वर्ग का सुख भी अक्षय नहीं है। वह सब शास्त्रों का--वेद पुराणादि का--अर्थवाद अर्थात् केवल मन समझानेवाले शब्द है। जिनकी धर्मकर्म में प्रवृत्ति नहीं है उनके मन में इस ओर लोभ उत्पन्न करने के लिए ही ये कहे गये हैं--एक गुना करो, करोड़ गुना फल मिलेगा। माँ जैसे अपने छोटे बालक को असम्भव किस्से या गीत सुनाकर और भुलावे में डालकर दूध पिलाती है या सुलाती है, वैसा ही, और क्या! उद्देश्य अच्छा है, काम भी बनता है।

---

२६०. तो फिर सब उपासना सकाम है समझकर क्या नहीं करना चाहिए? करने के लिए कौन मना करता है,

जब तक जी में आये खूब करो । उनसे चित्त उदार और प्रसन्न होता है, सद्विचार और सत्कार्य के अनुष्ठान के द्वारा सात्त्विक भावों का उदय होता हैं, धर्म-कर्म में विश्वास और उस ओर आकर्षण पैदा होता है । फिर भी यह ज्ञान रखो कि वे धर्म तो अवश्य हैं, कर्मकाण्ड के अन्तर्भूत है, पर भक्ति नहीं है । भक्ति में खरीद-विक्री, दूकानदारी नहीं, लाभहानि का हिसाब लगाना नहीं और न है फल की आकांक्षा । वहाँ केवल है, अपने प्राणप्रिय देवता को अपना शरीर मन प्राण सर्वस्व अर्पण करना, उनको प्यार करके परिपूर्ण तृप्ति--क्योंकि उन्हें प्यार कर लेने पर फिर और कुछ प्राप्त करने की या आकांक्षा की वस्तु ढूँढ़ने पर भी नहीं मिलती--प्रेम के लिए ही प्रेम, प्रेम करना ही स्वभाव है, यदि प्रेम न किया जाय तो जैसे प्राण निकलते हों,--ऐसा भाव । यह है भक्ति की पराकाष्ठा--परा, शुद्धा, निष्काम प्रेम-भक्ति । पर इस तरह की भक्ति अति विरली है,वह पहले से ही आपरूप नहीं आती। इसीलिए कर्मकाण्ड का, वैधी भक्ति का अनुष्ठान शास्त्रों में विहित है । उन सब का श्रद्धाविश्वास के साथ पालन करने से ईश्वर की कृपा से क्रमशः चित्त शुद्ध हो जाता है, मन का मैल धुल जाता है, स्वल्प फलों की चाह तुच्छ मालूम पड़ने लगती है, अनित्य विषयों में वैराग्य उत्पन्न होता है । तब अक्षय परमपद की प्राप्ति के लिए हृदय व्याकुल हो उठता है। इसी अवस्था को पराभक्ति या परमज्ञान कहते हैं ।

---

२६१. बारह वर्ष तक अखण्ड ब्रह्मचर्य और सत्य-पालन

करने से वाणी सिद्ध हो जाती है, ईश्वरीय शक्ति का विकास होता है। ऐसे मनुष्यों के वाक्य कभी भी मिथ्या नहीं होते जिसको जो कहें उसे वही मिल जाता है--अभिशाप या आशीर्वाद कुछ भी हो। वे जिसकी मंगलकामना करते हैं उसका मंगल ही होता है। उनके शुद्ध मन में जो भी संकल्प उठता है, वही सिद्ध हो जाता है।

---

२६२. जो भगवान को प्राप्त करना चाहें, उन्हें किसी भी अवस्था में सत्य का त्याग नहीं करना चाहिए, उसके फलस्वरूप यदि सहस्रों दुःखकष्ट भी भोगना पड़ें तो भी वह अच्छा ही है। तभी तो सत्यस्वरूप भगवान मिलेंगे। सत्य के छूटते ही भगवान का भी छूटना हुआ। सत्य की अमोघ शक्ति है। पिता के सत्य की रक्षा के लिए राम वन में गये, पंच पाण्डवों ने द्रौपदी को लेकर निर्वासन स्वीकार किया, राजा हरिश्चन्द्र का सर्वनाश होकर वे राह के भिखारी बने। पुराणों में सत्यनिष्ठा के और भी शतशः दृष्टान्त हैं, अपना जीवन विसर्जन करके भी सत्यपालन। हमारे श्रीठाकुर, माँ को ज्ञान-अज्ञान, शुचि-अशुचि, अच्छा-बुरा, पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म आदि सब कुछ समर्पित कर सके, पर सत्य-असत्य माँ को नहीं दे सके, कारण वे कहते थे कि सत्य दे देने पर फिर किसके सहारे रहें।

---

२६३. समय 'सर सर' निकला जा रहा है। प्रतिक्षण आयु नष्ट हो रही है। जीवन का अर्थ ही मृत्यु है।

शरीर कब नष्ट हो जायगा इसका कोई ठिकाना नहीं। इसीलिए मृत्यु के लिए सदा तैयार रहना चाहिए। व्यर्थ ही समय नष्ट न करो, कोई अवश्य करने का काम भविष्य के लिए न डाल रखो। परलोक के लिए कुछ सहारे की चीज अभी से संचय करो, धन-सम्पत्ति इसी संसार के सहारे हैं, साथ नहीं जायँगे। साधन-भजन परकाल के सहायक हैं, वही तुम्हारी अपनी निजी चीज है, जिसको साथ लेकर जा सकोगे। जो कुछ भी करोगे, कुछ भी व्यर्थ नहीं जायगा, उतना ही मार्ग तय हो जायगा।

---

२६४. इस जीवन में साधन-भजन करके जो प्राप्त करोगे, अगले जीवन में वहीं से शुरू करके तेजी से आगे बढ़ोगे। इसीलिए देखा जाता है किसी किसी का स्वाभाविक ही ईश्वर में अनुराग होता है; उनके चित्त की एकाग्रता और सूक्ष्म तत्त्वों की अनुभूति थोड़ासा साधन-भजन करने से ही सिद्ध हो जाती है, थोड़ासा उकसा देने से ही वे प्रकट हो जाते हैं। यह उकसा देना ही दीक्षा है। श्रीठाकुर उन्हें सूखी लकड़ी कहते थे, जो एक फूंक मारते ही जल उठती है। और जो भीगे हुए या कच्चे काठ के समान हैं, वे सहज में चेतना नहीं चाहते, इसके लिए गुरु को कितनी ही झंझट सहनी पड़ती है। उन्हें भी बहुत परिश्रम करना पड़ता है और देरी होती है। तत्त्व की उपलब्धि करना हो तो अनेक जीवन बीत जाते हैं।

---

२६५. कर्मफल का भोग सभी के लिए अनिवार्य है, भोगों का अन्त हुए बिना मुक्ति नहीं होती। पर अवतारी महापुरुषों का आश्रय ग्रहण करने पर सात जन्म के भोग एक जन्म में ही कट जाते हैं।

---

२६६. संसार में प्रायः देखने में आता है कि जो धर्ममार्ग पर आरूढ़ हैं, उनके सांसारिक दुःख-कष्टों की कोई सीमा ही नहीं, और जो अधर्म का आश्रय लेते हैं, उनमें से बहुतेरे सुख-स्वाधीनता से जीवनयापन करते हैं। उनकी भोगवासना खूब प्रबल होने से, भोग ही उनका जीवनसर्वस्व होता है, किसी भी उपाय से भोग्य वस्तुएँ प्राप्त कर लेने पर वे समझते हैं हम बड़े बुद्धिमान हैं, मजे में हैं; विष्ठा का कीड़ा जैसे विष्ठा में ही आनन्द पाता है, उसी में पुष्ट होता है। पर वे इतने मूर्ख होते हैं, कि कभी भी नहीं सोचते कि यह सब दुष्कर्मों का बोझ संचित कर रहे हैं, इसके परिणाम में अगले जन्म में भयंकर कष्ट भोगना पड़ेगा। शायद पशुयोनि में भी जन्म लेना पड़ेगा। पर-जीवन की बात छोड़ देने पर भी, जो इस तरह के घोर अज्ञान से आच्छन्न हैं, जो विवेकरूपी वृश्चिकदंशन से कभी पीड़ित नहीं होते, वे तो नरपशु ही हैं।

---

२६७. जो स्वार्थान्ध हैं, इन्द्रियों के गुलाम हैं, और धन के मद से मत्त हैं, वे बाहर से कितने ही चिकने-चुपड़े और प्रफुल्ल क्यों न हों, कभी नहीं सोचना कि उनके अन्तः-

कारण में भी सुख या शान्ति है। विषयभोगों का क्षणिक सुख मिष्ट बोध होने पर भी वही बाद में अन्तर्दाह का कारण हो जाता है, और प्रतिदिन भय, चिन्ता, अस्वस्ति और व्यर्थता से उनका जीवन भाराक्रान्त हो उठता है। और तो और वे मौत तक माँगने लगते हैं या आत्महत्या करते हैं। वे सचमुच ही दयनीय हालत में हैं।

---

२६८. सत्‌चिन्तन, सत्संग और सत्कार्य के द्वारा चित्त शुद्ध होता है। तभी चित्त स्थिर होता है और जप-ध्यान में एकाग्रता आती है। दर्पण पर मैल रहने पर जैसे स्पष्ट प्रतिबिम्ब नहीं पड़ता, उसी तरह मन के मलिन रहते हुए भगवद्‌भावों की धारणा का सामर्थ्य नहीं होता। इसीलिए साधन-भजन नितान्त जरूरी हैं। उसमें मन न लगे तो भी शुरू शुरू में उसे बलपूर्वक भी करना पड़ेगा। अभ्यास करते करते उसमें रसास्वाद मिलने लगेगा, वह अच्छा लगने लगेगा। रोगी यदि औषधि न खाना चाहे तो उसे समझा-बुझाकर, पीटकर, यहाँ तक कि बलपूर्वक भी औषधि खिलानी पड़ती है। पर ऐसे रोगी भी हैं, जिनके मुँह में औषधि डाल देने पर भी वे उसे उगल देते हैं। उनका रोग कैसे छूटेगा ?

---

२६९. जितना ही साधन-भजन करोगे, उतनी ही भगवान की कृपा को समझ पाओगे, उन्हें हृदय में प्रत्यक्ष कर पाओगे। देखोगे, वे तुम्हारी कितने प्रकार से सहायता

कर रहे हैं, उन्हें पाने के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, तुम्हारे लिए वे ही सब जुटा रहे हैं। वे स्वयं यदि आकर्षित न करें तो क्या उनकी तरफ मन जाता भी है ? जो अनन्यभाव से उन्हें चाहता है, उनके लिए सर्वस्व का त्याग करता है, वे उसके हृदय में ऐसी प्रेरणा का संचार करते हैं कि जिससे उन्हें पाने के लिए उसके प्राण व्याकुल हो उठते हैं और उसे अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता । इस अवस्था को प्रेमोन्माद कहते हैं। व्याकुलता उनका निजी रूप ही है । व्याकुलता उनके अन्तःपुर की चाबी है ।

---

२७०. कुछ दिन जपध्यान करके ही मन में मत सोचो कि, ऐं इतना किया, पर कुछ भी तो नहीं मिला । यदि बहुत दिन तक करके भी कोई फल-प्राप्ति न हो तो समझना कहीं न कहीं दरार या छिद्र है, जिसमें से सब कुछ निकल जाता है । अपना आत्मनिरीक्षण करके उसे ढूँढ़ निकालो और बन्द कर दो, तब तो कलसी धीरे धीरे भरेगी, अन्तर शक्ति और आनन्द से भर जायगा । मैं इतना करता हूँ, इतना करता हूँ, ऐसा सोचना ही महा मूढ़ता है, अहंकार का चिह्न है। इसके बदले में सदा सोचो, "मैं चाहे जितना करूँ, पर तुम्हें पाने के लिए वह कितना-सा है । मेरी खुद की क्या ताकत है, जिसके बल पर मैं तुम्हें प्राप्त कर सकूँ ? तुम यदि निज-गुण-वश ही मुझ पर कृपा करो तभी होगा, मेरे लिए और कोई उपाय ही नहीं है, मैं तुम्हारा एकान्त शरणागत हूँ । स्वगुण से मुझ पर दया करो, मेरी रक्षा करो,

मुझे भवबन्धन से मुक्त कर दो।"

---

२७१. ध्यान-जप का अभ्यास सब समय, सभी जगह और सब अवस्थाओं में किया जा सकता है। ध्यानसिद्ध मनुष्य, अपने मन को अन्तःप्रदेश में खींच लाकर, लोगों के हल्ले-गुल्ले में भी ऐसी निर्जनता का अनुभव करते हैं कि उनकी एकाग्रता में किसी से भी व्याघात नहीं हो सकता। वे सुख-दुःख में, संपत्ति-विपत्ति में, निन्दा-स्तुति में, सम भाव से अवस्थित रहते हैं। उन्हें ही गीता में स्थितधी ब्रह्मज्ञ पुरुष कहा गया है।

---

२७२. उसी तरह, जप में जो सिद्ध हैं उनके प्रति श्वास-प्रश्वास के साथ जप आपरूप ही होता रहता है, प्रयत्न करके नहीं करना पड़ता। इसी को अजपा जप कहते हैं। अभ्यासवशतः जप में मन दृढ़ हो जाने के परिणामस्वरूप उनकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि वे बाहर बातचीत या कामकाज में लगे हों तो भी उनके अन्तर में इष्टमन्त्र अनवरत ध्वनित होता रहता है। वे लोकशिक्षा के निमित्त मन हुआ तो उस समय माला भी फिराते जाते हैं। पर वैष्णव बाबाजियों के समान भाजी-तरकारी का भाव-ताव करते हुए साथ ही माला के गुटियों से खटाखट आवाज करते हुए लोकदिखाऊ माला फेरना यह नहीं है। ध्यानसिद्ध और जपसिद्ध महापुरुषों की अवस्था एक समान ही है। दोनों ही दीर्घकालीन ऐकान्तिक भावपूर्वक अभ्यास, चित्त-

संयम और साधन-भजन के अन्तिम फलस्वरूप हैं।

---

२७३. विशेष प्रक्रिया के अनुसार श्वास-प्रश्वास समभाव से और धीरे धीरे लेने का नाम ही प्राणायाम अर्थात् प्राणवायु का नियन्त्रण है। प्राणायाम ठीक तरह से लम्बे अर्से तक करने से चित्त स्थिर हो जाता है और ध्यान करते समय जिस वस्तु में लगाया जाय, उसमें एकाग्रता आती है और उसके सम्बन्ध में सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि होती है। यही प्राणायाम का आध्यात्मिक फल है। शरीर और मन के ऊपर भी इसकी क्रिया अद्भुत होती है। इससे शरीर स्वस्थ, सबल और कान्तिमान होता है। मन भी प्रफुल्ल, धैर्यशाली, वीर्यवान और दृढ-संकल्पसम्पन्न होता है; और प्रबल इच्छाशक्ति तथा आकर्षणी शक्ति (will-power and personal magnetism) विकसित होती है। इसलिए जिस काम में उसे लगाया जाय वह सिद्ध ही होता है। प्राणायाम के फलस्वरूप योगी लोग दीर्घजीवी होते हैं और उन्हें नाना प्रकार की अलौकिक सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पर वे परमार्थप्राप्ति में महाविघ्न-स्वरूप हैं।

---

२७४. संसार में देखा जाता है कि समस्त जीव-जन्तुओं का श्वास-प्रश्वास जितना धीरे धीरे प्रवाहित होता है, वे उतने ही दीर्घायु होते हैं और जो जल्दी साँस छोड़ते हैं वे स्वल्पायु होते हैं। पहले जमाने में लोग स्वाभाविक

स्वरोदय योगशास्त्र के मतानुसार

मनुष्य प्रति मिनट प्राचीन काल में १२–१३ बार श्वास लेता और १०० वर्ष जीता था ।

(आजकल १५–१६ बार)

हाथी	प्रति मिनट	११-१२	बार श्वास लेता है और	१००	वर्ष जीता है
सर्प	"	७–८	" " " " "	१२०	" " "
कछुआ	"	४–५	" " " " "	१५०–१५५	" " "
बन्दर	"	३१–३२	" " " " "	२०–२१	" " "
खरगोश	"	३८–३९	" " " " "	८	" " "

भाव से जीवन बिताते थे, अतः मनुष्य साधारणतः सौ वर्ष जीवित रहता था। वेदमतानुसार "शतायुर्वै पुरुषः"।

---

२७५. वायु वेगपूर्वक छोड़ना मना है। साँस इतनी ही जोर से छोड़ना चाहिए कि नाक के पास हथेली में रखा हुआ सतू जिससे न उड़ पाय।

---

२७६. जो लोग उपयोगी शिक्षा-दीक्षा या साधन-भजन के बिना ही मन को प्रथम से ही शून्य करने की चेष्टा करते हैं और सोचते हैं कि वे इस तरह मन को सम्पूर्णतः अवलम्बनहीन करके निर्बीज समाधि-रूप उच्चावस्था की साधना कर रहे हैं, वे मन को अपने तमोगुण में ही उतारकर उसे जड़ और मूढ़ भावापन्न कर डालते हैं। उनका मस्तिष्क खोखला हो आता है, वे सूक्ष्म विषयों की धारणा करने में असमर्थ हो जाते है।

---

२७७. शिवसंहिता के मतानुसार योग में सिद्धिलाभ करने का प्रथम लक्षण है--मैं निश्चय ही सफल होऊँगा यह विश्वास। द्वितीय, श्रद्धापूर्वक साधन; तृतीय, गुरुपूजा; चतुर्थ, समता; पंचम, इन्द्रियनिग्रह; षष्ठ है, परिमित आहार; सप्तम और कुछ नहीं--अर्थात् साधक में यही कुछ लक्षण ठीक ठीक होने से सिद्धि निश्चित है। सभी मुमुक्षुओं के लिए यह प्रयोजन है।

---

२७८. मन को वश में करने जैसा कठिन काम संसार में और नहीं है। श्रीरामचन्द्र ने हनुमान से कहा था, "चाहे सातों समुद्र कोई तैरकर सहज ही पार कर सके, समस्त वायु को शोषित कर ले सके, पहाड़ों को उठाकर अपनी ताकत का खेल दिखा सके, पर चंचल मन को वश में करना उसकी अपेक्षा भी कठिन है।" परन्तु इतना होने पर भी भयभीत होने का या निराश होने का कोई कारण नहीं है। वीर साधक असीम अध्यवसाय और दृढ़ संकल्प के साथ भगवान पर निर्भर होकर यदि प्राणपण से चेष्टा और साधना करे, तो उनकी कृपा से असाध्य साधन कर सकता है।

---

२७९. स्वामी विवेकानन्द ने अमेरिका से एक पत्र में स्वरचित एक श्लोक अपने गुरुभाइयों के निकट मठ में भेजा था। उसकी दो पंक्तियाँ इस प्रकार हैं--

"कुर्मस्तारकचर्वणं त्रिभुवनमुत्पाटयामो बलात्।
किं भो न विजानास्यस्मान् रामकृष्णदासा वयम्॥"

अर्थात् "हम तारों को चूर चूर कर डालेंगे, त्रिभुवन को बलपूर्वक उखाड़ डालेंगे। क्या तुम हमें जानते नहीं, हम श्रीरामकृष्ण के जो दास हैं?"

यदि इस तरह का आत्मविश्वास और गुरुभक्ति हो तो असम्भव भी सम्भव हो जाता है। उनका था इसीलिए वे विश्वविजयी हुए थे। ईसा मसीह ने भी कहा है, "यदि तुम्हारे पास सरसों-प्रमाण भी विश्वास हो और तुम इस पहाड़ को कहो कि यहाँ से हटकर वहाँ चला जा, तो वह

निश्चय ही चला जायगा, तुम्हारे लिए कुछ भी असम्भव न रहेगा।" सुना है हमारे श्रीठाकुर ने अपनी विविध प्रकार की आध्यात्मिक अनुभूतियों और ईश्वरदर्शन की, बाद में, परीक्षा करने के लिए माँ से कहा था, "माँ, यदि मेरे ये सब सत्य हों तो यह बड़ा पत्थर तीन बार कूदे।" कहते ही वैसा ही हुआ। यह सब क्या केवल मनघडन्त किस्सा-कहानी है?

---

२८०. शरीर में षट्चक्र (सुषुम्नानाड़ीस्थित छः कमल) क्या वास्तविक हैं? स्वामीजी से पूछने पर उन्होंने उत्तर दिया था, "हमारे श्रीप्रभु कहते थे कि योगियों द्वारा वर्णित कमल मनुष्यशरीर में दर असल में स्थूल भाव से नहीं हैं, किन्तु योगशक्ति के प्रभाव से वे पैदा होते हैं और उन्हें उनका अनुभव होता है।"

---

२८१. सत्त्व, रज और तम इन गुणों के भेद से कर्म तीन तरह के होते हैं, शुभ या सत्—सात्त्विक, अशुभ या असत्—तामसिक और इन दोनों से मिश्रित—राजसिक। अन्तःकरण या सूक्ष्म शरीर में कर्मों के द्वारा जो दाग या छाप पड़ती है उसका नाम है संस्कार। उसे ही हम कर्म, तकदीर, धर्माधर्म, पापपुण्य आदि कहते हैं। कारण के बिना कार्य नहीं होता। हमारी जो कुछ भी अच्छी या बुरी रुचि या प्रवृत्ति आदि हैं सब ही पूर्वसंचित संस्कारों की उत्तेजना मात्र है। उनमें से वे ही प्रकाशित या कार्यक्षम होते हैं,

जिनको अनुकूल वातावरण और परिस्थिति प्राप्त होती हैं; दूसरे संस्कार संचित बने रहते हैं—उपयुक्त योगायोग की प्रतीक्षा करते हैं—और अवसर पाकर शुभाशुभ फल प्रसव करते हैं। हम कुछ भी क्यों न करें, सभी सत् और असत् से मिश्रित रहता है, इसीलिए सुख-दुःखमिश्रित फल भोगना पड़ता है। जिसमें जिसका परिमाण ज्यादा होता है उसको वही नाम दे देते हैं।

---

२८२. समस्त कर्म ही बन्धन के हेतु हैं। सुख कहो, दुःख कहो, दोनों ही बन्धन हैं। यदि इन दोनों के पार न गये तो मुक्तिलाभ नहीं होता। कर्म केवल उन्हीं के लिए बन्धन का कारण नहीं होता, जो अहंबुद्धि से रहित होकर परहित के लिए काम किये जाते हैं, क्योंकि वे किसी भी फल की आकांक्षा ही नहीं रखते, और अपने नाम-यश या स्वार्थ-साधन के लिए भी काम नहीं करते। उनके हृदय में प्रेम का संचार होता है, वे प्राणिमात्र में ईश्वरदर्शन करके, उनकी सेवा समझकर कर्म करते हैं। इसलिए उनका वही कर्म समस्त संचित कर्म का क्षय करता है और मन में नये संस्कार-रूप किसी भी कर्मबीज का सृजन नहीं करता। इसलिए वे पुनः पुनः जन्म-मरण के कारण से विमुक्त होकर देहत्याग के बाद मोक्षप्राप्ति के अधिकारी बनते हैं।

---

२८३. भोगों में सुख नहीं है, सुख केवल त्याग में। जो सदसत् विवेक द्वारा अथवा भोग भोगकर उनसे शिक्षा

ग्रहण करता है, विषयभोगों को असार और परिणाम में दु:खदायी जानकर उनमें वीतराग होकर, स्वेच्छापूर्वक समस्त त्याग करता है वही परम सुखी है, वही अमृत का अधिकारी होता है । अपने "भक्तियोग" ग्रन्थ में स्वामीजी ने दिखाया है कि यह त्याग ही चतुर्विध योगों का प्राण है ।

---

२८४. कर्मयोगी "ईश्वर कर्ता, मैं अकर्ता" यह जानकर कर्म के फल में आसक्त न होकर उसे भगवदर्पण करता है । राजयोगी जानते हैं, प्रकृति पुरुष के लिए है । पुरुष प्रकृति के लिए नहीं; पुरुष है आत्मा, और प्रकृति जड़; अत: वे प्रकृति से सर्वथा भिन्न हैं; उनका सम्बन्ध क्षणिक ही है, चिरन्तन नहीं । पुरुष प्रकृति के अधीन नहीं । वे मालिक हैं, प्रकृति दासी; उनके कार्यसाधन के लिए ही प्रकृति है । प्रकृति का कार्य है उन्हें विभिन्न अवस्थाओं में से ले जाकर, उन्हें उनके यथार्थ स्वरूप की उपलब्धि करा देना । इसीलिए राजयोगी प्रकृति को अनात्म जानकर उसके मोह का त्याग करते हैं ।

---

२८५. ज्ञानयोगी का त्याग सब से कठिन है, क्योंकि उन्हें प्रथम से ही धारणा करनी पड़ती है कि समस्त जगत् और उसके साथ का सम्बन्ध मिथ्या है, माया है -- समस्त जीवन स्वप्न के समान है । उनका मार्ग है 'नेति' 'नेति'-- मैं यह नहीं, वह नहीं, मैं देह-मन-इन्द्रियादि कुछ नहीं;

मुझे सुख नहीं, दुःख नहीं, मेरा जन्म नहीं, मरण नहीं, बन्धन नहीं, मुक्ति नहीं, मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-चैतन्यस्वरूप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हूँ। इसीलिए वे समस्त बाह्य विषयों को त्यागकर, स्व-स्वरूप के ध्यान में मग्न रहते हैं।

---

२८६. भक्तियोगी का त्याग सब से अधिक सहज-साध्य है, स्वाभाविकतापूर्वक आप ही आता है। इसमें कठोरता नहीं, मन को बलपूर्वक दमन करने का वृथा प्रयास नहीं, केवल मन की वृत्तियों के झुकाव को फिरा देना पड़ता है, उनके प्रवाह का मुँह घुमा देना होता है। जगत् की नाना वस्तुओं में आसक्त होकर अविरत दुःख, शोक और निराशा भोग करके मनुष्य जब उनकी निस्सारता का अनुभव करके स्पृहारहित होता है, तब उन सभी में से उसकी आसक्ति आप ही खिसक पड़ती है, और नित्य सत्य, परमसुखास्पद परमेश्वर को प्राप्त करने के लिए उसका मनःप्राण व्याकुल होता है, हृदय में प्रेमभक्ति का संचार होता है। श्रीठाकुर ने इसीलिए कलियुग में भक्तिमार्ग को प्रशस्त कहा है।

---

२८७. जिनके जीवन में कर्म, योग, ज्ञान और भक्ति, इन चारों का अपूर्व समन्वय हो वे ही सर्वश्रेष्ठ आदर्श महापुरुष, जगद्गुरु हैं। सार्वजनीन धर्म के नये आदर्श को श्रीठाकुर स्वयं आचरित करके जगत् को दे गये हैं। यही है आज का युगधर्म।

---

२८८. त्याग के बिना जैसे योग नहीं होता, वैसे ही भोग भी नहीं होता। त्याग के बिना भोग केवल दुर्भोग ही है, एकमात्र दीर्घकालव्यापी दुःख सहन करना ही सार होता है। त्याग का नाम सुनते ही लोग डर से भागते हैं। वे धारणा ही नहीं कर सकते कि त्याग में कितना सुख है। त्याग करने की बात से जो स्त्रीपुत्र, प्रियजन, घरबार, धन-सम्पत्ति सब छोड़कर संन्यासी ही बनना पड़ेगा, इसका क्या मतलब ? अपने रोज के व्यावहारिक जीवन में साध्यानुसार एक-आधे, छोटे-मोटे त्याग का अभ्यास करके देख लो न। उसीसे समझ सकोगे कि त्याग में कितना सुख और आनन्द है, उससे चित्त कितना व्यापक, उदार और प्रसन्न होता है। जो त्याग आनन्द प्रदान नहीं करता, वह त्याग त्याग ही नहीं है, और कुछ है।

---

२८९. त्याग ही जीवन का जीवन है। हम प्रतिक्षण अनजान में त्याग करते हैं। जीवनधारण के लिए श्वास छोड़ते हैं; आहारादि के जरिये हृदय में ज्योंही रक्तसंचय हुआ कि वैसे ही साथ साथ समस्त शिराओं में संचरित किया जा रहा है--अन्यथा मृत्यु निश्चित है। हम जो कुछ भी दूसरों से या प्रकृति से पाते हैं, और जो कुछ भी उपार्जन करते हैं--विद्या, बुद्धि, ज्ञान, धन, धर्म--वे दूसरों के उपकार के लिए हैं, दूसरों का अभाव मिटाने के लिए हैं। उन्हें यदि बिना हिचकिचाहट के हम दान या वितरण करने में विमुख हों तो वे समय पाकर नष्ट हो जाते हैं, किसी के भी

कुछ काम में नहीं आते। शब्द, वितरण है---विनिमय नहीं। दान या त्याग स्वेच्छापूर्वक और अभिसन्धिरहित होना उचित है, तभी वे अभय फलदायी होते हैं। श्रीस्वामीजी ने कहा है--"बस देते ही चलो, कुछ प्रत्याशा मत रखो। जो प्रत्याशा रखता है उसका सिन्धु बिन्दु हो जाता है।"

---

२९०. बाह्य प्रकृति में त्याग की क्रिया सर्वत्र ही देखी जाती है। सूर्य, चन्द्र, तारे प्रकाश और उत्ताप दे रहे हैं। झाड़-पौधे फल प्रसव करते, छायादान करते और फूल, मधु तथा सौरभ वितरण करते हैं, नदी तृष्णा निवारण करती और पृथ्वी प्राणियों के लिए खाद्य तथा भोगसामग्री उत्पादन करती है। सब ही नीरवतापूर्वक निज-निज स्वभावानुसार जीवों के उपकार के लिए अपने आपको वितरित कर दे रहे हैं। एक आदमी ही केवल, मरने के समय भी 'मेरा' 'मेरा' करते मर रहा है।

---

२९१. योगी और त्यागी पुरुष अपने उपभोग के निमित्त किसी का भी दान ग्रहण नहीं करते, क्योंकि उससे मन की स्वाधीनता और पवित्रता को काफी नुकसान पहुँचता है। दान ग्रहण करने से बाध्य-बाधकता पैदा होती है और दाता के पाप शरीर तथा मन को कलुषित करते हैं। मेरे लिए यह हो जाय, वह हो जाय, मुझे यह चाहिए वह चाहिए, इस प्रकार वासनाओं के अधीन होना और उनके लिए दान ग्रहण करने का नाम परिग्रह है। अपरिग्रह है--

कामनाशून्य त्याग का भाव। केवल शरीररक्षा के लिए कुछ ग्रहण करने को परिग्रह नहीं कहते। ज्ञानी लोग, फिर उस सामान्य भोग में भी आसक्त नहीं होते, क्योंकि वे निश्चय-पूर्वक जानते हैं कि भोग में सुख नहीं है, और उन्हें सुखेच्छा भी नहीं होती। पर उनमें से जो कोई लोक-हितकर कार्यों में रत रहते हैं, वे उस काम को ठीक तरह से कर सकने के उद्देश्य से यदि दान स्वीकार करें, तो उनमें दोष नहीं होता।

---

२९२. नाम और नामी अभिन्न, भगवान और उनका नाम अभेद हैं। उनके रूप, गुण और भाव जैसे असंख्य हैं, उसी तरह उनके नाम भी असंख्य हैं। उनके नाम की शक्ति अमोघ और अनन्त है। जिस नाम में भी तुम्हारी रुचि हो वही नाम लेते जाओ। इसी से वे तुम्हारी पुकार का जवाब देंगे। केवल उनके नाम-जप से ही समस्त अभीष्ट पूर्ण हो सकते हैं और उन्हें भी प्राप्त किया जा सकता है। "जपात् सिद्धिः"।

---

२९३. किन्तु गुरुपरम्परा के बिना वस्तुलाभ होने का नहीं है। गुरुपरम्परा के द्वारा एक शक्ति धारावाहिक रूप से शिष्य में आती है और फिर उसके शिष्य में जाती है। कल्पनातीत समय से लेकर आज तक इसी प्रकार नाम की आध्यात्मिक शक्ति, विशेष-विशेष बीजमन्त्र रूप से उनकी कठोर साधनाओं द्वारा केन्द्रीभूत होती है। यह मन्त्र ही

साधक की आशा, आकांक्षा और उसके आदर्श का जीवित प्रतीक है। चित्त को एकाग्र करके, उस मन्त्र का नियमित जप करने पर उसका माहात्म्य प्रत्यक्षीभूत होता है। पर जिन्होंने गुरुपरम्परा से मन्त्र पाया हो ऐसे शुद्धचित्त साधक के पास से यथाविहित दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती है और उनके प्रति पूर्ण श्रद्धा-विश्वास रखकर उनके उपदेशानुयायी साधन-भजन करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है।

---

२९४. यदि कोई दरवाजा बन्द करके सो रहा हो तो उसका नाम लेकर पुकारने तथा दरवाजा खटखटाने से जैसे वह जागृत होकर जवाब देता है और दरवाजा खोलकर दर्शन देता है, उसी प्रकार सरल विश्वास और भक्ति के आवेग के साथ इष्ट मन्त्र का जप और साधन करने से सब जीवों के हृदयशायी इष्टदेवता जागृत होकर हृदयमन्दिर का दरवाजा खोल देते हैं और साधक को दर्शन देकर कृतार्थ करते हैं।

---

२९५. उनके नाम की इतनी अपार महिमा है कि उनका नाम लेने से पापी, पाखण्डियों तक का उद्धार हो जाता है, भक्तिरहित आदमी को नाम में रुचि हो जाती है और विषयों में अरुचि हो जाती है। और कुछ साधन-भजन न कर सको तो कम से कम उनका नामस्मरण ही किये चलो, उनके पास व्याकुल होकर प्रार्थना करो; मन को बल मिलेगा, शान्ति मिलेगी और उनकी कृपा से समय

पर प्रेम-भक्ति के अधिकारी होओगे।

---

२९६. तपस्या तीन प्रकार की है--कायिक, वाचिक और मानसिक। व्रतादि कृच्छ्रसाधन और दुखियों की सेवा इत्यादि शारीरिक तपस्या है। सत्यपरायणता वाचिक तपस्या है और इन्द्रियसंयम तथा ध्येयवस्तु में एकाग्रता-साधन मानसिक तपस्या है। जो परमार्थलाभ के प्रयासी हैं उन्हें इस त्रिविध तपस्या का आचरण करना चाहिए।

---

२९७. धर्म कहने से ईश्वर की उत्कट चाह और उनका अभावबोध, समझा जाता है। उसी चीज का अभाव हमें तीव्रतापूर्वक महसूस होता है जिसके न मिलने पर प्राणधारण असम्भव हो—जैसे वायु, अन्न, वस्त्र, वासस्थान। हम क्या सचमुच में भगवान को उसी तरह चाहते हैं? बात तो यह है कि हम उन्हें छोड़कर और सब कुछ चाहते हैं, क्योंकि हमारे जीवनधारण के लिए रोजाना का जो साधारण अभाव है यह बाह्य जगत् से ही पूर्ण हो जाती है। जब हमें ऐसी किसी वस्तु की जरूरत होती है जो बाह्य जगत् से कभी सिद्ध होनेवाली नहीं है, जब अन्दर की भूखप्यास मिटाने की ताकत उसमें नहीं है ऐसा हम समझ पाते हैं, तभी हम अपने अन्तर की ओर ताकते हैं और वहीं खोजते हैं। जब हम दुःख भोगते भोगते अपने हाड़-हाड़ से शिक्षा पाते हैं कि जो कुछ कर रहा हूँ सब बच्चों का खेल है, जगत् स्वप्न के समान मिथ्या है, अपना समझकर जिसको

पकड़ता हूँ वही हाथ में से खिसक जाता है--तब ऐसी कोई नित्य वस्तु के लिए प्राण व्याकुल होते हैं जिसे पाकर सब दु:ख और अभाव जड़ से दूर हो सकें। वह वस्तु है एकमात्र परमेश्वर। इस प्रकार की मन की गति, धर्म की प्रथम सीढ़ी है-- विषयों में वैराग्य और ईश्वर का अभावबोध।

---

२९८. श्रीमद्भागवत में सर्वनाश के कारणस्वरूप अधर्म की वंशपरम्परा इस तरह से वर्णित है--अधर्म की स्त्री है मिथ्या। उनका दम्भ नामक पुत्र व माया नाम की एक कन्या होती है। वे परस्पर विवाह करते हैं और उनसे लोभ नाम का पुत्र और शठता नाम की एक कन्या होती है। इनके सम्मिलन से क्रोध और ईर्ष्या उत्पन्न होते हैं। कलि उनका पुत्र और दुरुक्ति है कन्या। कलि दुरुक्ति के गर्भ से भीति नाम की कन्या और मृत्यु नामक पुत्र को पैदा करता है। यातना और नरक उनकी ही सन्तान हैं।

---

२९९. फिर—"धर्म अर्थ काम मोक्ष" रूपी चतुर्वर्ग की प्राप्ति का कारणस्वरूप धर्म का परिवारवर्ग भी कह गया है। इस तरह ये तेरह बहनें धर्म की पत्नियाँ हैं--श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, लज्जा और मूर्ति। इनमें से श्रद्धा--सत्य, मैत्री—प्रसाद, दया--अभय, शान्ति--शम, तुष्टि—हर्ष, पुष्टि—गर्व, क्रिया--योग, उन्नति--दर्प, बुद्धि--अर्थ, मेधा--स्मृति, तितिक्षा—मंगल और लज्जा--विनय नाम के पुत्रों

को प्रसव करती हैं और समस्त पुण्य के उत्पत्तिस्वरूप धर्म की सब से छोटी स्त्री मूर्ति--ईश्वरीय शक्तियुक्त नर और नारायण ऋषि को जन्म देती है ।

---

३००. हृदय और मस्तिष्क में द्वन्द्व उपस्थित होने पर हृदय की बात ही सुनो । मस्तिष्क है बुद्धिवृत्ति, ज्ञानेन्द्रिय का प्रधानकेन्द्र। सब विषयों का ज्ञान लाभ करने की उपयुक्त मानसिक शक्ति हम उसी से पाते हैं । हृदय है मर्मस्पर्शी समस्त भाव, आवेग और अनुभूति का केन्द्र। मस्तिष्कवान लोग नानाविध शास्त्र, विद्या और विज्ञान में पारदर्शी, पण्डित, उपदेष्टा, तीक्ष्णबुद्धि, कुशल तथा अनेक विषयों में दक्ष होते हैं। हृदयवान लोग, दया, उदारता, परदु:ख में सहानुभूति, सब जीवों पर प्रेम आदि सद्गुणों से भूषित होते हैं। हृदय ही मनुष्य को सर्वोच्च भावों की प्रेरणा देता है और आत्मानुभूति के राज्य में ले जाता है, जहाँ बुद्धि विचा-रादि को प्रवेशाधिकार नहीं है । विद्वान् व्यक्ति स्वार्थी निष्ठुर और जघन्य प्रकृति का हो सकता है। पर हृदयवान व्यक्ति प्राणान्त दशा में भी उस स्वभाव का नहीं हो सकता।

---

३०१. जितने तरह से हो सके, हृदय-वृत्ति का ही अनुशीलन करो। हृदय ही प्रेमगंगा की गोमुखी है । हृदय के भीतर से ही भगवद्वाणी सुनी जाती है, हृदयगुफा में ही वे दर्शन देते हैं । उन्हें प्राप्त करने के लिए, ज्ञान, भक्ति और मोक्ष प्राप्ति के लिए शास्त्रज्ञान या पढ़ाई-लिखाई की

जरूरत नहीं। किताब पढ़कर चरित्रगठन या 'मनुष्य' की तैयारी नहीं होती--पण्डितमूर्ख ही पैदा होते हैं। 'ग्रन्थ नहीं ग्रन्थि',--गाँठ, बन्धन--ऐसा श्रीठाकुर कहते थे।

---

३०२. खासकर आधुनिक शिक्षा तो मानो खिचड़ी ही है, अनेकशः मानसिक अजीर्ण पैदा करती है। 'पास' करना नहीं, गले में 'पाश' डालना है। किन्तु हाय, पास करने का कितना मोह हमें पकड़ बैठा है! जीवन के सर्वश्रेष्ठ समय--यौवन की सब मानसिक और शारीरिक शक्ति हम उसी में लगा देते हैं। अर्थाभाव होते हुए भी उसके लिए महाकठिनाई से पैसा इकट्ठा करते हैं, कितना शारीरिक कष्ट और मानसिक उद्वेग सहन करते हैं--परिणाम प्रायः ही स्वास्थ्यनाश और जीवनसंग्राम में पराभूत होकर चहुँ ओर अन्धकारदर्शन! इसके ऊपर से यदि बालविवाह के फलस्वरूप साथ ही औरत लड़के बच्चों का भरणपोषण भी करना पड़े तो सोने में सुहागा! विश्वविद्यालय को जो गुलामखाना कहा गया है वह झूठ नहीं है। स्कूल-कालेजों की शिक्षा जिस रूप में आज उपस्थित है वह अर्थकरी भी नहीं, कार्यकरी भी नहीं--है अनर्थकरी और आत्मघाती। नैतिक मेरुदण्डहीन, धर्म में श्रद्धाहीन, विदेशी-भावापन्न, जीवन्मृत तुल्य लोग तथाकथित शिक्षित समुदाय में ही अधिकांश देखे जाते हैं। जिनके निहायत शुभ संस्कार हों, वे ही बच निकलते हैं।

---

३०३. दुर्लभ मनुष्य-जन्म पाकर उन्हें पाने की चेष्टा करो, जिन्हें पा लेने से सब कुछ पाना हो चुकता है, पाने के लिए और कुछ नहीं रहता। उन्हें जानने का यत्न करो, जिनके जान लेने पर समस्त वस्तुओं का जानना सम्पन्न हो चुकता है, जानने के लिए और कुछ भी शेष नहीं रहता। उन्हें प्रेम करो, जिन्हें प्रेम करने पर अन्य सब तरह का प्रेम---कामिनी-कांचन में आसक्ति---राखमिट्टी मालूम पड़ने लगता है। इस तरह से जीवन गठित करो कि मृत्युहीन जीवन प्राप्त कर सको।

---

३०४. पर इस तरह की रति-मति होनी चाहिए। साधना चाहिए—नितान्त कठोर साधना। एक छटाक साधना भी एक सौ मन बोल-बकवाद से ज्यादा वजनदार होती है। एक बिन्दु प्रेम, समुद्र के बराबर शास्त्रज्ञान की अपेक्षा ज्यादा तृष्णानिवारक होता है। प्रेम है मानों खीर, मलाई, माखन, और शास्त्रादि अपरा विद्याएँ हैं मानो मठा। विचार, शास्त्र-व्याख्या, वक्तृता आदि ये सब निम्न श्रेणी के लोगों के लिए हैं---वे उन्हें ही लिये बैठे रहें, बैठने दो। जो मठा ही पीना चाहें पियें, तुम जितना हो सके खीर, मलाई और माखन खाओ।

---

३०५. पवित्रता ही "सत्यं-शिवं-सुन्दरम्" का चिर-तुषारमण्डित कैलासधाम है। पवित्र हृदय में ही वे प्रतिभात होते हैं। पवित्र हृदय में ही समस्त महान तत्त्वों का स्फुरण

होता है। यही जो परमाणु-तत्त्व, पंचतन्मात्र-तत्त्व, देहतत्त्व (अर्थात् देह के भीतर क्या होता है, क्या नहीं होता और उसमें व्यतिक्रम होने से क्या क्या रोग होते हैं), नक्षत्रसमूह की गति और क्रिया, पदार्थ-विज्ञान, ज्योतिषशास्त्र आदि का आविष्कार हमारे योगी-ऋषियों ने अनेक युग पूर्व ही कर डाला था वह कैसे सम्भव हुआ होगा भला ! उनके पास तो दूरवीक्षण और अणुवीक्षण प्रभृति वैज्ञानिक यन्त्र, अनेक रासायनिक द्रव्यों से परिपूर्ण प्रयोगशाला (Laboratory) आदि नहीं थे। उन्होंने शुद्ध मन की एकाग्र अन्तर्दृष्टि की सहायता से ही अनेक गूढ़ तत्त्वों का आविष्कार किया था, जो वर्तमान सभ्य जगत् की पण्डित-मण्डली को भी विस्मय में डाल देनेवाले हैं।

---

३०६. पराभक्ति, ज्ञान, और मोक्ष-प्राप्ति के यदि अभिलाषी होओ तो भीतर से, बाहर से पवित्र होना पड़ेगा। देह और अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए। उसका उपाय, श्रीठाकुर कहते थे, "कामिनी-कांचन त्याग"। अत्यन्त कठिन है, पर असाध्य नहीं। प्राणपण से चेष्टा और अभ्यास-- पुरुषकार और साधन द्वारा सब ही कार्य सिद्ध होते हैं। पुरुषकार भी भगवत्कृपा बिना नहीं होता। "एक दो ही कटें, लाखों पतंगों में से सही"। पर कौन कह सकता है कि तुम उन्हीं "एक, दो" में से नहीं हो ? इसी विश्वास से आगे बढ़ो।

---

३०७. हम लोग ज्ञानपापी हैं। जानने समझने के बाद भी पापकर्म करना तो छोड़ते ही नहीं, और ऊपर से अज्ञानता का ढोंग रचते और रोना रोते हैं। ज्ञानपापी असल नास्तिक है। पापी का परित्राण है, पर ज्ञानपापी के लिए मोक्ष नहीं। जो जागता हुआ सो रहा हो, उसे भला कौन जगायेगा! धर्मलाभ बच्चों का खेल ही तो है न? मन और मुख यदि एक न कर सके, पूर्णतया सरल न होओ तो कुछ भी नहीं होगा।

---

३०८. चालाकी से या धोखा देकर कोई भी महत् कार्य सम्पन्न नहीं होता। बाहरी आडम्बर और दिखाऊ बातचीत की चमक से लोगों को भुलावे में डाल सकते हो पर भगवान के साथ तो कपटता नहीं चलेगी, खुद ही ठगे जाओगे। साधन-भजन सब, फूटी कलसी में जल भरने के समान वृथा श्रम ही सिद्ध होगा। अक्लान्त परिश्रम और पूर्ण आत्मोत्सर्ग द्वारा ही महत् कार्य साधित होते हैं।

---

३०९. खुद कुछ नहीं करूँगा, या कर नहीं सकूँगा, तुम यदि कर दो तब ही बने---यह सब पुरुषत्वहीन लोगों की बातें हैं, मुँह में डाल दो तब खाऊँगा, यह भाव जिस व्यक्ति या जिस समाज का हो उनका मर जाना ही अच्छा है, और प्राकृतिक विधान से धीरे धीरे शक्तिहीन होकर वे मर भी जाते हैं। परमुखापेक्षी होकर या किसी दृष्ट या अदृष्ट शक्ति की सहायता के भरोसे पर जीवित रहना मृत्युतुल्य

ही है। स्वाधीनता है स्वर्ग, पराधीनता नरक।

---

३१०. कर्मवाद स्वीकार करने पर अदृष्टवादी, तकदीरवादी क्यों होना पड़ेगा ? कर्मवाद चिरकाल से ही मनुष्य के सामने मुक्ति की वाणी ही घोषित कर रहा है। यदि मैं कर्मदोष से स्वयं को बद्ध होकर अधःपतित कर सकता हूँ तो निश्चय ही कर्म के बल पर अपने को उन्नत भी कर सकता हूँ। खुद को यदि खुद ही बाँध सकता हूँ तो खुद ही उस बन्धन को खोल भी सकता हूँ। फर्क है केवल इच्छा और कर्म के प्रकार का। सत्संकल्प, सत्कर्म और साधुवृत्ति के द्वारा असत् कर्मपाश का छेदन करके, हम मुक्त क्यों नहीं हो सकेंगे ? यदि किसी समय भी मुक्ति की सम्भावना न होती, तो मनुष्य पागल हो जाता। और यदि असत् कर्मों से अधिक लाभ हो, तो हम आत्मोत्सर्ग करके सत्कर्म या धर्म करने ही क्यों जायँ ? यदि ऐसा होता तो सारा धर्मभाव, साधुभावदया, प्रेम इस जगत् से लुप्त हो जाता और मनुष्य पशु में परिणत हो जाता।

---

३११. भगवान अनन्त स्वरूप होकर कैसे क्षुद्र सीमा-विशिष्ट मनुष्य-शरीर में अवतीर्ण हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में स्वामीजी ने कहा था, "हाँ भगवान अनन्त-स्वरूप हैं यह सत्य है, पर तुम्हारी जैसी धारणा है वैसे नहीं। तुम लोग अनन्त का अर्थ स्थूल रूप से समझते हो-- एक बहुत बड़ी विराट् वस्तु जो सारे जगत् को जोड़े हुए

है । इसीलिए ऐसा सोचते हो कि एक इतनी बड़ी विराट् वस्तु अपने को संकुचित करके इस अतिक्षुद्र मनुष्य-शरीर में कैसे प्रविष्ट हो सकती है? दर असल भगवान की अनन्तता का तात्पर्य उनकी असीम आध्यात्मिक सत्ता से ही है और इसीलिए नरदेह धारण कर अवतीर्ण होने पर भी इस सत्ता की अनन्तता में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ।"

---

३१२. जो निर्गुण ब्रह्म हैं वे ही सगुण ब्रह्म हैं । सगुण ब्रह्म और अवतार में कोई पार्थक्य नहीं है । पर अवतार और जीव में प्रभेद है । मनुष्य अपने कर्मवश बाध्य होकर बार बार जन्मग्रहण करता है । किन्तु अवतार स्वेच्छा से जगत् की रक्षा, अधर्म का नाश और धर्मसंस्थापना के लिए तथा साधु और भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए युग-युग में अवतीर्ण होते हैं । और भी, जीव त्रिगुणात्मक प्रकृति के वशीभूत होकर जन्मग्रहण करते हैं, किन्तु अवतार प्रकृति के या त्रिगुणों के अधीन नहीं--उनके मालिक और नियन्ता हैं । अवतार साक्षात् भगवान ही हैं, केवल उनकी देह रूपी खोल ही मनुष्य के आकार की होती है ।

---

३१३. भगवान कहने से हम जो कुछ भी श्रेष्ठ और चरम तत्त्वों की धारणा कर सकते हैं, उन्हें हम अवतार में ही मूर्तस्वरूप में देख पाते हैं और ठीक तरह से समझ सकते हैं । वे समस्त ईश्वरीय गुणों के मूर्त विग्रह हैं । अवतार-शरीर से भगवान ही नाना प्रकार की लीला करते

हैं। पर जगत् के विशेष कार्य की सिद्धि के लिए वे अल्प-संख्यक शुद्धचित्त भक्त और अन्तरंग पार्षदों के निकट ही निजस्वरूप को प्रकाशित करते हैं। और ठीक आदमी के समान ही व्यवहार करते हैं। इसलिए साधारण लोग उन्हें पहचान नहीं सकते, यहाँ तक कि वे उनकी अवज्ञा भी करते हैं।

---

३१४. पुरुषकार और भगवत्कृपा में किस तरह सामंजस्य हो सकता है? ये दोनों परस्परविरोधी ही मालूम पड़ते हैं, पर ऐसा नहीं है। पुरुषकार भी परमेश्वर का ही दान है, उनकी ही कृपा। पौरुषहीन भक्त निचले दर्जे का है। देखो, महावीर, अर्जुन, प्रह्लाद कैसे वीर भक्त थे! हनुमान समुद्र पार करने में भी डरे नहीं, 'जय श्रीराम' कहकर एक छलांग में ही पार कर गये। प्रह्लाद, बारबार मृत्यु के सम्मुख होकर भी तिलमात्र विचलित नहीं हुए, तन्मय होकर विष्णु की शरण लिये रहे। इसीलिए उन्होंने भी आविर्भूत होकर उनकी रक्षा की। अर्जुन का वीरत्व सर्वविदित है। पुराण में और भी कितने दृष्टान्त हैं।

---

३१५. वीर भक्त कहता है, मैं माँ की सन्तान होकर, ईश्वर का दास होकर——किससे डरूँ? मेरे लिए असम्भव ही क्या है? वीर भक्त कहता है—

"जिस जग की शासिका माँ महेश्वरी है उसमें मैं किससे डर सकता हूँ?

* * * *

मैं भक्ति के बल पर ब्रह्ममयी की जमींदारी खरीद सकता हूँ।

"माँ तू साधन-समरभूमि पर आ, फिर देख लूंगा, माँ हारती है या पुत्र।

* * * *

माँ! आज तुझे मैं समर में देख लूंगा। क्या मैं मरण से डरता हूँ? माँ! डंका बजाकर तुझसे मुक्तिधन छीन लूँगा। मेरी रसना झंकार करती है, कालीनाम का हुंकार होता है। रण में आकर मुझसे जूझने की आज किसकी हिम्मत है?

* * * *

रसिकचन्द्र द्विज कहता है कि माँ, तेरे हीं बल से तुझको समर में जीतूँगा।"

श्रीठाकुर इसे ही कहते थे "डकैत भक्ति"--मार, मार करके, माँ के रत्नभण्डार को लूट लेना।

---

३१६. जिनमें पौरुष है उनके प्रति परमेश्वर सदय होते हैं, उन्हें सहायता करते हैं। साहस, उत्साह और उद्यम-हीन भक्त भोंदू और तामसिक स्वभाव का होता है। ऐसे लोग सोचते हैं ईश्वर का नाम सुबह शाम लिया, कुछ तो आनन्द मिला, उनकी दया जब होने को होगी, होगी; जो कुछ मिला वही काफी है। इन लोगों में बहुतसे जन्मों के अन्त में ईश्वर को पाने के लिए व्याकुलता पैदा होती है। ये हैं सेंध काटनेवाले चोर--डर-डरके ही मरते हैं, जो

सामान्य कुछ मिल जाय उसी में सन्तुष्ट । फिर भी पक्का चोर होना चाहिए, जागते घर में चोरी है न ।

---

३१७. दीन-हीन भाव को स्वामीजी ठीक नजर से कभी नहीं देख सकते थे । कहते थे, "वह है नास्तिकता, वे जबरदस्त रोग हैं । नहीं नहीं करते करते आदमी वही हो जाता है । वह नम्रता है या छिपा अहंकार? मैं पापी हूँ, मैं बिलकुल नाचीज हूँ, दुर्बल हूँ, इस तरह से सोचते सोचते वे और भी वैसे ही हो जाते हैं । 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः' । जिनका शरीर-मन दुर्बल है, उन्हें धर्मलाभ नहीं होता । उनसे कोई भी काम नहीं होता । इन मूर्खतापूर्ण भावों को सूपे की हवा देकर बिदा कर दो । इसके विपरीत कहो, अस्ति, अस्तिमेरे भीतर अनन्त शक्ति उपस्थित है, उसी शक्ति का उद्‌बोधन करना होगा । जो अपने को सिंह समझता है वह 'निर्गच्छति जगज्जालात् पिंजरादिव केशरी' । सिंह जैसे पिंजरा तोड़कर बाहर निकल जाता है, वैसे ही वह जगत्-रूप जाल को तोड़कर मुक्तिलाभ करता है । वीर होना होगा, 'अभीः अभीः' भयशून्य होना होगा—चाहे धर्म करो, या संसार । नहीं तो 'जिस अँधेरे में हो उसी में' चिरकाल पड़े रहोगे ।"

---

३१८. अपने और अन्य के कल्याण के निमित्त जो कुछ किया जाय वही धर्म है । बाकी सब अधर्म ।

---

३१९. जिनके अन्त:करण में आत्मोपलब्धि के लिए अभाव ही महसूस नहीं हुआ, जिनकी मोक्षप्राप्ति की पिपासा ही जागृत नहीं हुई, उन्हें हजार उपदेश दो, सब व्यर्थ है । वे इस कान से सुनते हैं, उस कान से निकाल देते हैं । हमारे यहाँ के तो मूर्ख किसान लोग भी दार्शनिक हैं । वे पाश्चात्य देशों के अनेक विद्वानों की अपेक्षा धर्मतत्त्व ज्यादा समझते हैं । 'ब्रह्म सत्यं जगत् मिथ्या' यह बात तो बचपन से ही सुनते आ रहे हैं । जमीन यदि तैयार न हो और समय पर अच्छा बीज न बोया जाय तो क्या आशानुरूप फसल उत्पन्न होती है? जिनका विषयरस सूख चुका है उनका अनुराग, सूखे घास के ढेर में अग्नि की एक चिनगारी गिरने के समान ही, एकदम धू धू करके प्रज्वलित हो उठता है । लालाबाबू, धोबी की एक बात "वासना में अग्नि दे" सुनकर ही वैरागी होकर निकल गये । वेश्या के तिरस्कार को सुनकर बिल्व-मंगल को चैतन्य हो गया । वे तत्क्षण संसार त्यागकर कृष्णप्रेम के भिखारी हो गये थे । इसी जन्म में जिनका होना होता है, उनका इसी तरह होता है ।

---

३२०. मन:प्राण से सरल होना पड़ेगा । जिसके जीवन में सरलता है उसके लिए सात खून माफ । वह हजार पापी होने पर भी समय पर ईश्वर की कृपा का लाभ करके परम भक्त हो जाता है ।

---

३२१. मानव-जमीन अनुर्वरा नहीं है, कृषि-कर्म के

प्रयोग व प्रयत्न के बिना व्यर्थ के घास-पात व वन-जंगल से परिपूर्ण हो गयी है, साँप-बिच्छुओं का निवासस्थल हो गयी है, इसीलिए सदा ही डर लगा रहता है। यही मानवजमीन प्रयत्नपूर्वक जोतने-बोने पर--श्रीगुरुप्रदत्त साधनभजन का निष्ठा के साथ अनुष्ठान करने पर--अमूल्य धन पैदा करेगी--सुख, शान्ति और आनन्द की खानि बन जायगी। साधक रामप्रसाद ने गाया है:—

"मन! तू कृषिकाज नहीं जानता। ऐसी अनुपम मानव-भूमि पड़ी हुई है, जोतने पर सोने की उपज होती।"

---

३२२. संसार में जड़ नाम की कोई वस्तु ही नहीं है। जिसे हम जड़ कहते हैं उसकी चेतना अज्ञानान्धकार से ढकी हुई मात्र है। उस तमस् के परदे को हटा लेने पर देखोगे माया का अन्धकार दूर हो जायगा, चैतन्य-शक्ति का प्रकाश होगा, जगत् चैतन्यमय ज्ञात होगा, आनन्द का सागर उमड़ आयगा।

---

३२३. इस जगत् में कोई भी कार्य, कोई भी विचार या कोई भी शक्ति वृथा नष्ट नहीं होती। किसी न किसी समय अचिन्तित रूप से वह तुम्हारे या किसी अन्य के इसी या पर जीवन में अच्छे-बुरे भावों के अनुरूप फलवती व कार्यकरी होगी ही, सुख या दुःख भोग के रूप में। साधु, सावधान! यदि अपना भला चाहो तो सत्पथ का अनुसरण

और असत्पथ का त्याग करो ।

---

३२४. मार्कण्डेयपुराण के अन्तर्गत श्रीश्रीचण्डी, शक्ति-उपासकों का परम पवित्र ग्रन्थ है। उसका नित्य, या विशेष तिथि पर दुरारोग्य व्याधि या आपद्-विपद् से छुटकारा पाने के लिए, शान्तिस्वत्ययन में अथवा देवी-पूजा के अंग-स्वरूप, यथाविधि संयम के साथ पाठ किया जाता है। स्वामीजी कहते थे, परमेश्वर के स्वरूप की देवी भाव से चण्डी में जैसी कल्पना की गयी है, उस तरह से पूर्ण और सर्वव्यापक रूप में उनका चिन्तन और उपासना और किसी भी धर्मग्रन्थ में देखने को नहीं मिलते। उसके अलावा भी चण्डी में हमारे सीखने और पालने योग्य बहुत विषय हैं। उदाहरणार्थ उनमें से एक है समस्त स्त्रियों को जगन्माता का अंश समझकर, उनका मातृभाव से दर्शन और पूजन करना, जिसे हम श्रीरामकृष्ण के जीवन में अपूर्व रूप से देख पाते हैं।

---

३२५. चण्डी में उल्लेख है, देवासुर संग्राम के समय सारे देवताओं के सम्मिलित तेज से श्रीचण्डिका का उद्भव हुआ और इसी मूर्तिमती ऐक्यशक्ति के निकट विराट् दानवशक्ति का पराजय हुआ। देवीपूजा वास्तव में मातृ-भाव से ऐक्यशक्ति की ही आराधना है।

हम यदि अपने देश और दसजनों के कल्याण-साधन के निमित्त आपस का भेदभाव और अपना अपना स्वार्थ

भूलकर एक दिल से सम्मिलित होकर एक व्यक्ति को अपना नेता नियत करके एकमत होकर कार्य करें तो फिर कोई भी विरोधी शक्ति, वह चाहे जितनी अधिक प्रतापशाली क्यों न हो, हमारे निकट खड़ी तक न रह सकेगी व हमें कभी हरा नहीं सकेगी। हम सर्वत्र जय-लाभ करेंगे।

---

३२९. हम हिन्दू लोग, संघबद्ध नहीं हैं इसीलिए हम इतने दुर्बल, इतने असहाय हो गये हैं। इसी कारण हम पर नाना अत्याचार होते हैं और हमें सब बिना चूँ-चपाट किये सहन करना पड़ता है; अहिंसा की दुहाई देकर हम अपना मन समझा लेते हैं, पर दर असल में अपने आपकी प्रवंचना करते हैं। इसे ही महात्मा गाँधी ने Non-violence of the weak (दुर्बल की अहिंसा का पालन) कहकर दोषारोपित किया है, और Non-violence of the strong अर्थात् अत्याचार का बदला लेने की पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य के रहते हुए भी शत्रु के प्रति अहिंसा-भाव के पोषण और प्रेमपूर्ण व्यवहार को वास्तविक अहिंसा-धर्मपालन कहा है। स्वामीजी का भी यही मत था। अन्याय या अत्याचार से बचाव के निमित्त तुम यदि एक गाल में चपत खाकर आततायी के दोनों गालों में चाँटा न लगा सको, उसे तुम्हारी हत्या करने के लिए उद्यत देखकर भी यदि तुम उसे मारकर न डाल दो तो फिर तुम मनुष्य कैसे! हिन्दू शास्त्रों का भी यही मत है।

---

३२७. स्वामीजी की अमरनाथ-यात्रा के शुरू में एक आदमी ने उन्हें पूछा था, "महाराज, बलवान को दुर्बल पर अत्याचार करते देखकर हमें क्या करना उचित है?" स्वामीजी ने जवाब दिया, "क्यों, इसमें और क्या कहना है? अवश्य ही उस बलवान को पकड़कर जमकर मार लगाओ।" ऐसे ही एक और समय पर स्वामीजी ने कहा था, "अपनी दुर्बलता तथा निश्चेष्टता के कारण, पराया घूँसा खाकर भी उस अपमान को हजम कर जाना यदि क्षमा समझी जाय तो वह किसी काम की नहीं। उसकी अपेक्षा तो लड़े जाना ही अच्छा! हजार हजार देवदूतों तक को सरलता से परास्त करने की क्षमता यदि तुममें हो तभी तुम्हें क्षमा करने का अधिकार है..." "...गृहस्थ के लिए आत्मरक्षा।"

---

३२८. इसीलिए हिन्दुओं को यदि बचे रहना हो तो बल-संचय ही एकमात्र कर्तव्य है। उसका प्रधान उपाय है एकता। हमारा धर्मविश्वास दृढ़ होता और हम धर्म के निमित्त प्राण देने के लिए भी कुण्ठित न होते, तो कोई भी हमारे धर्म की निन्दा और देव या देवस्थानों का अपमान करने का साहस न करता। बेधर्मी बदमाश लोग भी हमारी स्त्रीजाति के ऊपर अमानुषिक और घृणित अत्याचार करने का साहस न करते। सब को एकत्र और एकमत होने के सिवा हिन्दुओं के बचे रहने का अन्य उपाय नहीं। धर्म, समाज, संस्कृति और अपनी स्वयं की रक्षा के लिए,

अपने बीच का श्रेणीविभेद, अपना अपना व्यक्तिगत और श्रेणीगत स्वार्थ और द्वेषाद्वेषी भूलकर हम यदि एक हो सकें, तो बेधर्मी लोग हमारी धर्मव्यवस्था की निन्दा या विरुद्धाचरण करने में भय खायेंगे ।

---

३२९ वराहनगर मठ में स्वामीजी ने गुरुभाइयों को एक किस्सा कहा था : एक जमींदार के बगीचे में दो माली थे । एक प्राय: सब समय हाथ जोड़कर मालिक के सामने बैठा रहता और भक्ति से गद्गद होकर कहता, "आहा! प्रभु के कैसे सुन्दर नैन, कैसी सुन्दर नाक और कैसा सुन्दर रूप !"—इत्यादि । दूसरा माली सारा दिन बगीचे में चेष्टा करके अनेक प्रकार की साग-सब्जी, फल-फूल आदि उत्पन्न करता और वही सब रोज मालिक के सामने रखकर प्रणाम करके चला जाता । मालिक किसके ऊपर अधिक सन्तुष्ट होगा ? उसी तरह भगवान भी, जो अपने कर्तव्य-कर्म की अवहेलना करके केवल स्तोत्र-स्तुति से उन्हें सन्तुष्ट करना चाहता है, उसकी अपेक्षा जो ईश्वर की सेवा समझकर अपना कर्तव्य-कर्म देह-मन लगाकर सम्पन्न करता है उस व्यक्ति से ही अधिक सन्तुष्ट होते हैं । स्वामीजी ने गुरुभाइयों को सम्बोधन करके कहा था, "देखना तुम कहीं 'कैसे सुन्दर नेत्र, कैसी सुन्दर नाक'-वालों के दल में या घण्टा हिलानेवालों के दल में न पड़ जाना ।"

---

३३०. धर्मलाभ का अर्थ है आत्मानुभूति । जिसे यह

अनुभूति हुई है वही यथार्थ धार्मिक है । सच्ची बात कही जाय तो हम सब ही नास्तिक हैं । हम यदि भगवान को अपने अन्तर्बाह्य देख सकें, सर्वव्यापी (Omnipresent) समझकर धारण करें,तो फिर क्या उनकी साक्षात् उपस्थिति में हम कोई कुकार्य कर सकते हैं ? हम यदि विश्वास करते हों, कि हम जो बात भीतर ही भीतर मन में सोचते हैं उसे भी वे सब जान पाते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ (Omniscient) हैं, तो फिर क्या हम लज्जा से अवनत होकर असत् चिन्तन से विमुख न होते ? हमें यदि यह ज्ञान हो कि हमारे पापों के परिणाम में दण्डस्वरूप वे हमारे लिए नरकयन्त्रणा का विधान करने में सक्षम हैं, क्योंकि वे हैं सर्वशक्तिमान (Omnipotent), तो क्या हम उनके डर से पापों से विरत न होते ? हम लोग लोकलज्जा, निन्दा या सरकारी दण्ड-विधान के डर से बाहर अच्छा होने की चेष्टा करते हैं, असलियत में नहीं । बाहर से धार्मिक समझकर किसी की पकड़ाई में न आवें ऐसे लुक-छिपकर गुप्त रूप से हम असत्कर्म करना नहीं छोड़ते । ऐसे स्वभाव के लोगों की अपेक्षा तो वे लोग, जो अपना नास्तिक कहकर परिचय देते हैं, हजारगुना श्रेष्ठ हैं ।

---

३३१. स्वामीजी ने कहा है, जब भी हो सके,जैसे भी हो सके दूसरों की सहायता करो, किन्तु किस उद्देश्य से कर रहे हो इस ओर नजर बनाये रखो । यदि तुम अपनी किसी सुविधा या स्वार्थसिद्धि के लिए करते हो तो समझ रखना

कि उससे जिनकी तुम सहायता करते हो उनका कोई विशेष लाभ या उपकार न होगा, तुम्हारा भी नहीं । किन्तु यदि वह निःस्वार्थ हो, तो जिन्हें देते हो उनको तो काफी सुख तथा उनका कल्याण होगा ही, परन्तु उससे हजारगुना सुख और कल्याण तुम्हारा खुद का भी होगा। तुम्हारा जीवनधारण जैसे सत्य है यह भी ठीक वैसा ही ध्रुव सत्य है ।

---

३३२. पूजा दो प्रकार की है, बाह्य और मानस । बाह्य पूजा में देवता की मूर्ति, चित्र, घट, काष्ठ और शिला आदि में देवता की प्राणप्रतिष्ठा करके पूजा की जाती है; हम लोग मनुष्य हैं; मनुष्य के जीवन-धारण के लिए जो जो आवश्यक होता है और मनुष्य जिससे सुख, तृप्ति और आनन्द पाता है, देवता की पूजा में वे ही सब वस्तुएँ उन्हें निवेदित की जाती हैं; जैसेः——पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, आसन, वस्त्र, भूषण, पुष्पमाला, गहने इत्यादि; गन्ध-पुष्प चन्दन, धूप, दीप, नैवेद्य, फलमूल, मिष्टान्न या अन्न और पूरी व्यंजनादि भोग, पायस, पीने के लिए जल, ताम्बूल, शय्या, व्यजन, स्तोत्रपाठ, गीतवाद्य, नृत्य, आरती इत्यादि । कोई सामग्री न होने पर भक्तिपूर्वक उन सब के बदले में केवल जल देकर भी पूजा की जा सकती है ।

---

३३३. मानसपूजा में देवविग्रह या अन्य किसी भी उपकरण की आवश्यकता नहीं होती । देवता की मूर्ति का

हृदय में ध्यान करके, तथा मन ही मन उपर्युक्त द्रव्यादि की कल्पना करके उन्हें निवेदन करने से ही मानसपूजा सम्पन्न हो जाती है। इस पूजा में ब्राह्मण, चाण्डाल, अस्पृश्य सब का ही अधिकार है। इस पूजा में शुचि-अशुचि, देश-काल, विधि-निषेध आदि की कोई बला नहीं। केवल मनःसंयोग की आवश्यकता है।

---

३३४. अन्न या भोज्यमात्र ही जीवधारियों की साधारण सम्पत्ति है, यह उपनिषदों की शिक्षा है। परपीड़न अथवा दूसरे को वंचित किये बिना एक ग्रास अन्न भी कोई मुख में नहीं डाल सकता। ईश्वर को अन्न निवेदित न करके और क्षुधार्त अतिथि तथा पशुपक्षियों का हिस्सा रखे बिना जो लोग केवल अपने लिए अन्न (भोज्य) रन्धन करके खाते हैं, उन्हें हमारे शास्त्रों ने पापी और उस अन्न को पाप-अन्न कहा है। गृही व्यक्ति यदि भूखे को अन्न न देकर खुद ही भोजन करता है तो उसके लिए शास्त्रों में नरकभोग की व्यवस्था है (बृहदारण्यक, प्रथम अध्याय, पंचम ब्राह्मण, द्वितीय श्लोक), पर असमर्थ होने पर यथासाध्य करना उचित है।

---

३३५. अपने स्वयं तथा आत्मीय स्वजनों के सुख तथा स्वार्थ-सिद्धि के लिए जो कुछ किया जाता है वह सांसारिक व्यापार मात्र है, धर्म नहीं। अपने स्त्रीपुत्र, स्वजनादि को प्रेम करने का नाम है माया, संसार; सब जीवों पर स्नेह

करने का नाम है प्रेम, दया। इसी प्रकार जो कुछ भी पुण्यकर्म, तपस्या, पूजा या साधन-भजन स्वयं के इहकाल या परकाल के सुख और कल्याण के लिए किया जाता है वह है निरी स्वार्थपरता और इस हिसाब से वह धर्म किंवा आध्यात्मिकता नहीं है। किन्तु जब भी ये सब कार्य फलभोग की इच्छा से रहित होकर समस्त जीवमात्र के सुख और कल्याण-साधन के निमित्त अनुष्ठित होते हैं, वे सभी इनमें समभाव से, बराबर बराबर, भागीदार हों इस मनोभावना से किये जाते हैं, तभी वे सहस्रगुन फलप्रद होते हैं--अपने तथा दूसरों के भी लिए। करुणावतार बुद्धदेव ने कहा था, "जितने दिन पर्यन्त जगत् के समस्त जीव मुक्तिलाभ नहीं कर लेते उतने दिन तक मैं अपनी मुक्ति नहीं चाहता।" कितनी उच्च श्रेणी का आदर्श है!

---

३२६. किन्तु यदि दूसरों के कल्याण के निमित्त निष्काम कर्म करके हजारगुने फल की आशा तुम पोषण करो, तो फिर वह निष्काम कर्म, और न रहा। यह तो वही एकगुना काम करके हजारगुनी फलकामना करना हुआ--जिस तरह लोग दस रुपये के नोट को सौ रुपये के नोट में, या एक तोले सोने को सौ तोले सोने में परिणत करवाने के प्रलोभन में धूर्त-ठग लोगों के फन्दे में पड़कर अपना दिया हुआ मूलधन या स्वर्णमुद्रा और गहने आदि खो बैठते हैं।

---

*३३७. श्रीरामकृष्णदेव जिस प्रकार सर्व-धर्म-समन्वय के मूर्त विग्रह थे उसी तरह वे ज्ञान, भक्ति, योग और कर्म, इस साधनप्रणाली-चतुष्टय के सहयोग के भी उज्ज्वल दृष्टान्त थे। सर्वांगसुन्दर चरित्रगठन का यही एकमात्र उपाय है। उन्हीं के जीवन के आलोक से उद्भासित होकर स्वामीजी ने इन सब योगों के सहयोगात्मक सम्मिलित साधनतत्त्व का जनसाधारण में प्रचार किया और उनके द्वारा प्रतिष्ठित मठ और मिशन की यही साधन-प्रणाली और उद्देश्य है ऐसा निर्दिष्ट किया। उनके द्वारा उद्भावित मठ और मिशन के Emblem (सीलमुहर) के ऊपर यही परिव्यक्त हुआ है। उसकी प्रतिकृति उनकी ही व्याख्या के सहित नीचे उद्धृत की जाती है।



३३८. "चित्र की तरंगायित सलिलराशि कर्म के, कमल भक्ति के एवं उदीयमान सूर्य ज्ञान के प्रकाशक हैं। चित्रगत सर्प-परिवेष्टन योग तथा जागृत कुलकुण्डलिनी शक्ति के परिचायक हैं। और हंस प्रतिकृति का अर्थ है परमात्मा। अतएव कर्म, भक्ति और ज्ञान, योग के साथ

---

*३३७–३४६ संख्यक उक्तियाँ श्रीरामकृष्ण-संघ द्वारा प्रकाशित बंगला पत्रिका "उद्बोधन" के अवलम्बन से लिखी गयी हैं।

सम्मिलित होने पर परमात्मा का दर्शन-लाभ होता है। चित्र का यही अर्थ है।"

---

३३९. आत्मज्ञान का अर्थ केवल अपने को ब्रह्मस्वरूप समझकर अनुभूति करना नहीं है, समस्त जीवों को भी ब्रह्मस्वरूप देखना है। अपने अन्तर में तथा बाहर सर्वत्र ब्रह्मदर्शन करने को ही उपनिषदों के मत में परम आत्मानुभूति या मुक्ति का लक्षण कहा गया है। श्रीचैतन्य और श्रीरामकृष्ण के जीवन में हम इसका प्रत्यक्ष उदाहरण पाते हैं। यही जीव-ब्रह्मवाद इतने समय तक शास्त्रों में दार्शनिकगणों की पण्डिताई के विचारों में निबद्ध था, एवं पर्वत-अरण्य-निवासी योगी-ऋषि और इनेगिने मुमुक्षुओं की साधना की वस्तु होने के कारण पर्वतों की गुफाओं में ही छिपा था। इस महान् तत्त्व को किस प्रकार गृही संन्यासी के भेद से रहित सब के दैनिक जीवन में सफलतापूर्वक प्रयुक्त किया जाय, इसका इशारा स्वामीजी ने श्रीठाकुर से पाकर, जीव के नारायण-ज्ञान से सेवा-व्रत का संसार में प्रचार किया है। "आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च"—'स्वयं की मुक्ति और जगत् के हित के लिए'—यह आदर्श परस्पर विरोधी नहीं बल्कि साहाय्यकारी है,—किस प्रकार साधना द्वारा वेदान्त का जीव-ब्रह्मवाद प्रत्यक्ष अनुभव किया जा सके और मानवसेवा में प्रयोग किया जा सके, इसका कौशल तथा पथ जगत् को सिखाने के उद्देश्य से स्वामीजी ने रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन की प्रतिष्ठा की है।

---

३४०. स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित यह नर-नारायण-सेवाधर्म एक सम्पूर्ण नयी चीज है। यह बौद्धयुग के भिक्षुओं या मध्ययुग के रोमन कैथलिक संन्यासियों द्वारा अनुष्ठित सेवाधर्म से मूलतः भिन्न है। बौद्ध संन्यासी लोग जो आर्त नरनारियों की सेवा करते थे वह दया और करुणा से प्रेरित थी और वह उनके निर्वाण में सहायक होगी ऐसा समझकर होती थी। कैथलिक संन्यासियों का सेवाकार्य भी इसी प्रकार दया तथा करुणा-मूलक ही था। इस प्रकार के सेवाकार्य में सेव्य और सेवक के बीच में भेदबुद्धि अपरिहार्य है। इसमें सेवक लोग अपने आपको उच्चासन पर प्रतिष्ठित समझते और सेव्यगण उनके साहाय्य के भिखारी हैं ऐसा अपने आपको समझकर उनके सम्मुख कृतज्ञ होना उचित है इसी भाव का पोषण करते। परन्तु स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित "आर्तनारायण, दरिद्रनारायण सेवा" उपनिषदों के अद्वैतभावमूलक है, अतः उसमें सेव्य-सेवक के बीच में कोई पार्थक्य नहीं है, क्योंकि आत्मा की दृष्टि से दोनों ही अभिन्न हैं। परन्तु सेव्य लोग सेवकों को सेवा या पूजा का सुयोग, सौभाग्य और अधिकार प्रदान करते हैं इसलिए सेवक सन्तुष्ट तथा सेव्य-गणों के निकट कृतज्ञ हैं। स्वामीजी ने कहा है, "Let the giver kneel down and worship, let the receiver stand up and permit!"— अर्थात् दाता लोग ही ग्रहीताओं के सामने घुटने टेककर उन्हें सेवा पूजा ग्रहण करने के लिए हाथ जोड़कर प्रार्थना ज्ञापन करें तथा उनसे अनुमति की भिक्षा माँगें। इसमें

और पूर्वोक्त भावों के बीच में आकाश-पाताल प्रभेद है।

---

३४१. यदि जड़ प्रतिमा, घट, पट, काठ या शिला में उपास्य देव या देवी का आवाहन करके अन्तरात्मा या ब्रह्मस्वरूप से पूजा की जा सकती है तो फिर जीव में, विशेषत: जीवश्रेष्ठ जीते-जागते मनुष्य में इसी प्रकार की पूजा क्यों नहीं की जा सकती? मनुष्य की पूजा यानी उसकी स्थूल देह की पूजा नहीं, उसमें जो आत्मरूपी नारायण उपस्थित हैं, उनकी ही पूजा। जो आत्मरूपी नारायण मुझमें हैं वे ही समस्त नर-नारियों के शरीरों में हैं, इस अभेद दृष्टि से अज्ञ, दरिद्र, रुग्ण रूपधारी नारायण को परम श्रद्धा के साथ ज्ञानदान, अन्नवस्त्रदान, औषधि-दान तथा सेवाशुश्रूषादि इस पूजा के अंग हैं। अन्यान्य देव-देवियों की पूजा के समान इस पूजा में भी आत्मा के सहित अभिन्न भाव न हुआ तो यह भी व्यर्थ श्रम में ही परिणत होती है। शास्त्र भी कहते हैं "शिवो भूत्वा शिवं यजेत्", शिव होकर शिव की पूजा करो; "देवो भूत्वा देवं यजेत्", देव होकर देव की पूजा करो।

---

३४२. स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित यह नर-नारायण की उपासना चित्तशुद्धि के लिए केवल मात्र निष्काम, अनासक्त परार्थ कर्म ही नहीं है, परन्तु ज्ञान, योग, भक्ति और कर्म के अपूर्व सामंजस्य से समन्वित परमात्मा की उपासना की एक सम्पूर्ण नयी साधना-पद्धति है। क्योंकि यह ज्ञान, योग,

भक्ति और कर्म से सम्मिलित सहयोग से परमात्मा की उपासना है अतः साक्षात् मुक्तिप्रद है। इसमें ज्ञानयोग की सहायता से मनुष्य को आत्मरूपी नारायण समझना, राजयोग की सहायता से आत्मरूपी ईश्वर का मनोनिवेशपूर्वक ध्यान करना, भक्तियोग की सहायता से उनके प्रति परम अनुरक्त होना तथा निष्काम निःस्वार्थ कर्म की सहायता से उनकी ही सेवा करनी पड़ती है।

---

३४३. केवल मुक्तिलाभ की दृष्टि से ही नहीं, स्वामीजी का यह नर-नारायण-वाद मनुष्य को मनुष्य के निकट सम्मान के उच्च शिखर पर अधिष्ठित करता है। इसका महत्त्व असाधारण है; कारण, इस मत से मनुष्य दीन हीन कृपा का पात्र नहीं है, किन्तु परम श्रद्धा का पात्र है--शिव है। अधिकांश धर्मयाजक और पुरोहितगणों ने, वे स्वयं ही भगवान के एकमात्र प्रतिनिधि हैं इस हिसाब से ईश्वर को मनुष्य के पुण्यों का पुरस्कार और पापों का कठोर दण्डदाता विचारक इस रूप में आकाश के बहुत ऊपर स्वर्ग में रत्नसिंहासन पर बैठाकर, तथा मनुष्य को चिरपापी मानकर उसके लिए अनन्त नरकों की व्यवस्था की है। और स्वर्ग की चाबी पुरोहितों के पास रहने से उन्हें विषय-सम्पत्ति और धन आदि के दान स सन्तुष्ट करने पर पापी-तापी लोग वहाँ का प्रवेशाधिकार प्राप्त करेंगे यह धर्म का शासन है, ऐसा सिद्ध करके उन्होंने मनुष्यों का शोषण किया है।

---

३४४. इस मारात्मक मत के विरुद्ध स्वामीजी ने शिकागो धर्म-महासम्मेलन में उदात्त कण्ठ से घोषणा की--"हे अमृत की सन्तानो, कौन कहता है तुम पापी हो, तुम्हें पापी कहना भी पाप है! तुम हो अमृतत्व के उत्तराधिकारी। उस परमपुरुष को ज्ञात करके तुम जन्ममृत्यु के उस पार चले जाओ, मुक्तिलाभ का अन्य कोई मार्ग नहीं है।" कैसी है अमृतमय आशा की वाणी! तथाकथित दीन हीन, अवज्ञेय, असहाय और अस्पृश्य नरनारीगण आत्मारूप से साक्षात् शिव हैं और हमारी सेवा तथा पूजा पाने के योग्य हैं; इस महावाणी का जोर के साथ प्रथम प्रचार किया है स्वामी विवेकानन्द ने और उनके अन्त:प्रेरक हैं भगवान श्रीरामकृष्ण।

---

३४५. वर्तमान काल में हम देखते हैं कि सारे विश्व में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को, एक राष्ट्र अन्य राष्ट्र को, अपने अपने भोग स्वार्थ चरितार्थ करने के निमित्त, निर्ममतापूर्वक ध्वंस कर रहा है। इस युग में मनुष्य के हाथ से मनुष्य की लांछना--मानवता की अमानवता--मनुष्य के प्रति मनुष्य की हीन दृष्टि तथा प्रभुत्वपूर्ण और अपमानसूचक व्यवहार चरम सीमा को प्राप्त कर चुका है। मनुष्य के प्रति घातक शत्रुभाव-पोषण के कारण मनुष्य ने जंगली हिंस्र पशुओं को भी अतिक्रम कर डाला है। प्राच्य और पाश्चात्य के शक्तिमान तथाकथित उन्नत राष्ट्र अपनी राष्ट्रीय उन्नति और स्वदेश-सेवा के पुण्यनाम से एवं जगत्

में शान्ति प्रतिष्ठा तथा सभ्यता के विस्तार की दुहाई देकर दुर्बल और अनुन्नत राष्ट्रसमूहों का सर्वस्व शोषण कर उनका सर्वनाश साधन कर रहे हैं। पाश्चात्यों की दृष्टि में अपाश्चात्य, अश्वेत, अकिञ्चियन, मनुष्य ही नहीं हैं--हैं असभ्य, बर्बर! उनके लिए भोगसामग्री उत्पन्न करने के यन्त्रस्वरूप वे ईश्वर द्वारा सृष्ट हैं। इस प्रकार का पीड़ादायक दृष्टिकोण और विश्व के भोगों की उपकरणराशि को लेकर उनकी आपस में प्रतिद्वन्द्विता ही आधुनिक प्रलयान्तक विश्वव्यापी युद्ध का मूल कारण है।

---

३४६. भारतवर्ष में भी धर्म, समाज, सम्प्रदाय और अधिकारवाद के नाम से आपस में परस्पर विरोधमूलक अनेक प्रकार के भेद, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, अप्रतिहत प्रभाव से राज्य कर रहे हैं और इन्होंने राष्ट्रीय जीवन को सर्वविध दुःखदैन्य और दुर्दशा से जर्जरित करके रख छोड़ा है। इसीलिए देखा जाता है कि क्या पाश्चात्य, क्या प्राच्य दोनों में मनुष्य या राष्ट्र के प्रति उपरोक्त जघन्य दृष्टि तथा भेदभाव-पोषण और उसी के अनुयायी आसुरिक व्यवहार, जगत् में समस्त विरोध-विद्वेष का मूल कारण है, एवं स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित नारायण ज्ञान से जीवसेवा ही इस विषम समस्या के समाधान का एकमात्र उपाय है। इसी उद्देश्य से उन्होंने समग्र मानवजाति के मध्य इस चूड़ान्त साम्य-मैत्री और समदर्शन-साधनात्मक आदर्श के द्वारा धर्म, समाज, राष्ट्र प्रमुख मानवजीवन के समस्त विभाग--यहाँ

तक कि मनुष्य के दैनिक जीवन पर्यन्त को नियन्त्रित करने का उपदेश दिया है। इस महान् आदर्श का जगत् में प्रचार करना तथा उसको कार्य रूप में परिणत करने का मार्गदर्शन ही रामकृष्ण मठ और रामकृष्ण मिशन का उद्देश्य है।

---

३४७. भगवान एक ही आधार से नैसर्गिक नियम और प्रेम-स्वरूप हैं। जगन्माता रूप से हैं प्रेमस्वरूपिणी और दयामयी, जगत्पिता रूप से न्यायविधाता। वे कर्म-फलदाता हैं और साथ ही कपालमोचन रूप से शरणागत भक्तों को समस्त बन्धनों से मुक्त कर देते हैं।

---

३४८. जैसे वायु बादलों को घेर-घारकर एक जगह इतने घनीभूत कर देती है कि अन्धकार की सृष्टि हो जाती है, सूर्य को ढाँक देती है,—और फिर हवा ही मेघों को उड़ा देती है, मेघ हट जाने पर सूर्य प्रकाशित हो जाता है,—इसी प्रकार मन ही बन्धन की सृष्टि करता है और मन ही बन्धन को दूर करता है। जीव के अन्तर से मायानाश होते ही परमात्मा अपने स्परूप से प्रकाशित होते हैं। माया तो एक उड़ता हुआ क्षणिक आभास मात्र है; उसकी क्या ताकत है कि परमात्मा का विकास करे, जो हैं नित्यसत्य स्वयंप्रकाश स्वरूप!

---

३४९. स्वामीजी ने कहा है, श्रीठाकुर का सर्वधर्म-समन्वय भाव और सार्वजनीन धर्म, शिक्षा और आदर्श रूप

से संसार में जो केवल फैला देना होगा इतना ही बस नहीं है, इन सब को जीवन में सफलतापूर्वक प्रत्यक्ष कर दिखाना होगा। अर्थात्, हिन्दुओं की आध्यात्मिकता, बौद्धों की जीवों पर दया, क्रिश्चियनों की कर्मतत्परता और इस्लाम का आपस में परस्पर भ्रातृभाव हमें अपने प्रतिदिन के कार्यों द्वारा जीवन में प्रकाशित करना पड़ेगा। इसीलिए हमें जाति-धर्म-वर्ण-निर्विशेष सार्वजनीन धर्म की प्रतिष्ठा करनी होगी।

---

३५०. स्वामीजी ने कहा है, हिन्दूधर्म बौद्ध धर्म का जन्मदाता है, बौद्ध धर्म ईसाई धर्म का, तथा ईसाई धर्म है इस्लाम का जन्मदाता। ये चारों धर्म भारत में परस्पर मिलकर वर्तमान युग में इन्हें एक होना ही पड़ेगा। इसके लिए ही श्रीठाकुर का आगमन हुआ—बूढ़ी के साथ नाती-पोतियों का झगड़ा-झाँसा मिटाकर, धराधाम पर शान्ति-संस्थापना के लिए।

---

३५१. उपदेश तो बहुतसे सुने हैं, पाये हैं। उपदेश तो कितने ही जानते हो और दूसरे अनेकों को देते भी हो। किन्तु तुम्हारी बात सुनेगा कौन, यदि तुम अन्ततः उसका कुछ अंश भी स्वयं करके न दिखा सको। बातों में और कर्म में आकाश-पाताल का प्रभेद है। बहुतसे उपदेश पढ़ने या सुनने की जरूरत नहीं पड़ती। मुक्तिमार्ग का एक उपदेश भी यदि अपने जीवन में प्रतिफलित कर सको तो तुम धन्य

हो जाओगे, जगत् का भी कल्याण होगा। और तुम माँ की कृपा से इस दुस्तर भवसागर के पार होकर आनन्दधाम को प्रयाण करोगे।

---

३५२. हम, भाई, मातृगर्भ से भूमिष्ठ होते समय नग्न और अकेले ही आये थे। धराधाम से जब बिदा लेंगे तब भी हमें अकेले अकेले ही चला जाना पड़ेगा। कोई भी हमारे साथ न जायगा--दूसरों की बात ही क्या, जो हमारे प्रियतम जन हैं--एक मुहूर्त भी जो हमें छोड़कर रह नहीं सकते और हम भी जिनका तिलमात्र आँखों से ओझल होना सह्य नहीं कर सकते, वे भी नहीं। प्राण से भी प्रिय, हमारी आकर्षण की वस्तु जो धनसामग्री है, वह कुछ भी हम साथ न ले जा सकेंगे। नवजात शिशु जो रो उठता है, वह उसके जीवन का परिचायक है--इस रोने का शब्द दूसरों के लिए आनन्ददायी होता है। तुम्हारे देहत्याग करते समय, दूसरे तुम्हारे लिए रोवेंगे, रोने दो, तुम किन्तु सम्पूर्ण स्थिर शान्त भाव से इस पृथ्वी से बिदा लेना। उस समय तुम्हारे मुख पर मानों स्फुरण होवे वही अपार्थिव आनन्द और प्रशान्ति जो तुम्हारे अतलान्त सत्त्व में सदा विराजमान है। तभी तो तुम्हारा यथार्थ रूप से जीवन-यापन सार्थक हुआ। उस स्थिति में तुम्हारा जीवन पर कोई मोह या मरण के प्रति कोई भय न रहेगा। जीवन-मृत्यु दोनों पर ही विजय प्राप्त करके, दोनों के परे ऐसे एक नवीन द्वन्द्वातीत राज्य में चले जाओगे--जहाँ बन्धन या मुक्ति नहीं, अच्छा

या बुरा नहीं, सुख या दुःख नहीं, प्रकाश या अन्धकार नहीं--जो इन सब से दूर, अति दूर है ! उस अवस्था में केवल स्वयं को स्वयं ही जानना है--खुद तुम स्वरूपतः जो हो उसे ही जानना--स्वात्मोपलब्धि । वह अवस्था है अक्षय अनन्त शान्ति की अवस्था--भूमा अस्तित्व, ज्ञान और आनन्द की अवस्था । जीवन के उस परम लक्ष पर पहुँचने की आकांक्षा यदि पोषण करो, तो समस्त माया को झाड़कर फेंक दो, असत् वस्तुओं पर से सारी आसक्ति को दूर कर दो--सिद्ध, सत्यद्रष्टा आचार्यगणों की शिक्षा का अनुसरण कर, उन्हीं के समान तद्गत हो जाओ । तुम्हारे इष्ट के मूर्तिमान प्रतिनिधि ऐसे सद्गुरु की सहायता प्राप्त कर लक्ष्य तक पहुँचना सहज होगा । भगवान ही एकमात्र सत्य हैं--अन्य जो कुछ है सब मिथ्या है । तत् त्वं असि--तुम ही वे हो । यही है सार सत्य--समस्त धर्मशास्त्रों की मूल शिक्षा । प्रकृति के नियमानुसार इस चरम सत्य तक प्रत्येक नरनारी को पहुँचना होगा ही, वह चाहे इसी जन्म में हो या असंख्य जन्ममृत्युओं के आवर्तन के बाद ही हो ।

मेरी ही प्रियतम आत्मा के स्वरूप ! तुम सब ईश्वर-कृपा से सत्य को जैसे इसी क्षण प्राप्त करने में समर्थ हो जाओ और इसी क्षण से ही मानो अनन्त--अनन्त काल के लिए मुक्त हो जाओ--यही मेरी ऐकान्तिक प्रार्थना है । श्रीभगवान तुम्हारा कल्याण करें । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

ॐ तुम शान्ति से समाश्रित होओ--मेरे सत्त्व में

शान्ति ओतप्रोत होवे । भीतर तथा बाहर सर्वत्र, सब प्राणियों में शान्ति विराजमान होवे । पृथ्वी शान्तिमय होवे --असीम अन्तरिक्ष में, समस्त लोगों में शान्ति परिव्याप्त होवे । ॐ ॐ ॐ ।

हमारे अन्य प्रकाशन

श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग (सुविस्तृत जीवनचरित)––तीन खण्डों में।
प्रथम खण्ड (द्वि. सं.) रु. १०, द्वितीय खण्ड (द्वि. सं.) रु. ११, तृतीय खण्ड (द्वि. सं.) रु. ९.००

श्रीरामकृष्णलीलामृत (जीवनचरित)––दो भागों में।
प्रथम भाग (पंचम सं.) रु. ५.५०, द्वितीय भाग (पं. सं.) रु. ६.००

श्रीरामकृष्णवचनामृत (तीन भागों में)–प्रथम भाग (ष. सं.) रु. ९.००
द्वितीय भाग (च. सं.) रु. ८.००, तृतीय भाग (च. सं.) रु. १०.००

माँ सारदा––स्वामी अपूर्वानन्दकृत (तृ. सं.) . . रु. ८.००

श्रीरामकृष्ण और श्रीमाँ––स्वामी अपूर्वानन्द (तृ. सं.) . . रु. ४.६०

विवेकानन्द-चरित––सत्येन्द्रनाथ मजूमदारकृत (ष. सं.) . . रु. ७.५०

श्रीरामकृष्ण-भक्तमालिका (प्रथम भाग) . . रु. ८.५०

श्रीरामकृष्ण-भक्तिमालिका (द्वितीय भाग) . . रु. १०.००

धर्म-प्रसंग में स्वामी शिवानन्द (द्वि. सं.) . . रु. ५.००

शिवानन्द-स्मृतिसंग्रह––संकलक स्वामी अपूर्वानन्द (प्रथम भाग) रु. ७.५०
(द्वितीय भाग) रु. ८.५०, (तृतीय भाग) रु. १०.००

आचार्य शंकर––स्वामी अपूर्वानन्द (द्वि. सं.) . . रु. ४.६०

स्वामी विवेकानन्दकृत पुस्तकें

विवेकानन्द संचयन . . रु. ७.५०

भारत में विवेकानन्द––(भारतीय व्याख्यान) (च. सं.) . . रु. ५.२५

विवेकानन्द–राष्ट्र को आह्वान (तृतीय संस्करण) . . रु. ०.६०

विवेकानन्दजी के संग में (च. सं.) . . रु. ६.५०

राजयोग–(पातंजल योगसूत्र, सूत्रार्थ और व्याख्यासहित) (पं. सं.) ४.००
ज्ञानयोग (ष. सं.) ३.७५
धर्मतत्त्व (द्वि. सं.) २.००
भक्तियोग (स. सं.) १.५०
कर्मयोग (अष्टम सं.) २.२५
प्रेमयोग (सप्तम सं.) २.००
सरल राजयोग (च. सं.) ०.६०
पत्रावली (प्र. भा., तृ. सं.) ७.००
पत्रावली (द्वि. भा., तृ. सं.) ६.००
मन की शक्तियाँ तथा जीवन-गठन की साधनाएँ (ष. सं.) ०.७५
भगवान बुद्ध का संसार को सन्देश एवं अन्य व्याख्यान (द्वि. सं.) ३.२५

स्वामी विवेकानन्दजी से वार्तालाप (च. सं.) २.२५
महापुरुषों की जीवनगाथाएँ (चतुर्दश सं.) १.७५
धर्मविज्ञान (पं. सं.) २.५०
वेदान्त (द्वि. सं.) २.००
धर्मरहस्य (पं. सं.) १.३०
आत्मतत्त्व (द्वि. सं.) १.३०
स्वाधीन भारत ! जय हो ! (पं. सं.) २.००
आत्मानुभूति तथा उसके मार्ग (स. सं.) १.७५

विवेकानन्दजी की कथाएँ (ष. सं.) २.२०
हिन्दू धर्म (ष. सं.) २.२५
विविध प्रसंग (तृ. सं.) २.३०
कवितावली (च. सं.) २.२०
व्यावहारिक जीवन में वेदान्त (च. सं.) १.६५
परिव्राजक (मेरी भ्रमण-कहानी) (स. सं.) २.००
प्राच्य और पाश्चात्य (स. सं.) १.८०
सार्वलौकिक नीति तथा सदाचार १.६५
भगवान रामकृष्ण--धर्म तथा संघ (च. सं.) १.७५
विवेकानन्दजी के सान्निध्य में (तृ. सं.) १.८०
भारत का ऐतिहासिक क्रमविकास एवं अन्य प्रबन्ध १.३०
भारतीय नारी (स. सं.) १.५०
जाति, संस्कृति और समाजवाद (च. सं.) १.८०
चिन्तनीय बातें (च. सं.) १.५०
ज्ञानयोग पर प्रवचन (द्वि.सं.) ०.९०
नारदभक्तिसूत्र एवं भक्तिविषयक प्रवचन और आख्यान (द्वि.सं.) १.२०
शिक्षा (स. सं.) १.००
हिन्दू धर्म के पक्ष में (च.सं.) ०.७५
हमारा भारत (च. सं.) ०.७५
शिकागो वक्तृता (ए. सं.) ०.८०
पवहारी बाबा (च. सं.) ०.६०
वर्तमान भारत (स. सं.) ०.८०
मरणोत्तर जीवन (पं. सं.) ०.७०
मेरे गुरुदेव (नवम सं.) १.२०
ईशदूत ईसा (तृ. सं.) ०.५०
भगवान श्रीकृष्ण और भगवद्गीता (तृ. सं.) २.००

पाकेट-साइज पुस्तकें

सूक्तियाँ एवं सुभाषित (तृ. सं.) १.००
शक्तिदायी विचार (स. सं.) ०.७०
मेरी समरनीति (ष. सं.) ०.९०
विवेकानन्दजी के उद्गार (ष. सं.) ०.७५
मेरा जीवन तथा ध्येय (ष. सं.) ०.६०

श्रीरामकृष्ण-उपदेश--स्वामी ब्रह्मानन्द द्वारा संकलित (अष्टम. सं.) १.००
रामकृष्ण संघ--आदर्श और इतिहास--स्वामी तेजसानन्द (च. सं.) १.००

साधु नागमहाशय--(भगवान श्रीरामकृष्ण के अन्तरंग शिष्य) (नया संस्करण) ३.२५
गीतातत्त्व--स्वामी सारदानन्द (च. सं.) ३.५०
भारत में शक्तिपूजा--स्वामी सारदानन्द (नया सं.) १.७५
वेदान्त--सिद्धान्त और व्यवहार --स्वामी सारदानन्द (तृ. सं.) ०.५०